वन्दे वाणी विनायकौ

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली

वन्दे वाणी विनायकौ

लेखक

श्री रामवृक्ष बेनीपुरी

१९५७

आत्माराम एण्ड सन्स

प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता

काश्मीरी गेट

दिल्ली–६

प्रकाशक :
रामलालपुरी
आत्माराम एण्ड सन्स
काश्मीरी गेट, दिल्ली

मूल्य
तीन रुपया

मुद्रक :
श्यामकुमार गर्ग
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस
क्वीन्स रोड, दिल्ली

विषय-सूची

ये निबन्ध

मेरे साहित्यिक निबंधों का यह पहला संग्रह है। किन्तु साहित्यिक निबंध से यहाँ साधारण अर्थ नहीं लिया जाय। साहित्य की व्याख्या करने; रस, अलंकार आदि की कसौटी पर उसे कसने; कालों और वादों के घटाटोप रचने या तोड़ने का मेरा प्रयत्न नहीं। यह काम मेरे अन्य सहकर्मी अच्छी तरह कर रहे हैं।

साहित्य-सृष्टि मेरा व्यसन है। जिसे खेल-खेल में प्रारम्भ किया, वह मेरे जीवन की संचालिका बन गई है। यों कहूँ, तो व्यसन ही जीवन बन गया है।

अपने इस साहित्यिक जीवन के सिलसिले में मेरे मन में कुछ प्रश्न उठते रहे, कुछ समस्यायें आती रहीं। उन प्रश्नों के उत्तर, उन समस्याओं के समाधान ढूंढ़ने के प्रयत्न में जो विचार मेरे मन में उठे, उन्हें लिपिवद्ध करता गया।

मित्रों का आग्रह हुआ, उन्हें पुस्तक रूप दे दिया जाय।

जब पुस्तक, तो एक नाम चाहिये। तुलसी ने बचपन से ही मुझे अभिभूत कर रखा है। उनके 'मानस' के प्रथम वन्दना-श्लोक में ही मुझे नाम भी मिल गया। वन्दे वाणी विनायकौ!—वाणी को वन्दना, विनायक को वन्दना या वाणी—विनायक को वन्दना!

हमारी वाणी अब विनायकत्व करे—यही है मेरी कामना! विनायकों के फेर में हम बहुत रहे। हम वाणी-पुत्र स्वयं सोचें,—हम कहाँ हैं, हमें क्या करना है, हम साहित्य को किस दिशा में ले जायँ, हमारी भाषा कैसी हो, हमारी लिपि क्या हो? कुछ लोगों ने हमें वह जीव समझ रखा है, जिसकी पीठ पर जो भी बोझ, जितना भी बोझ, लाद दो!

यह स्थिति असत्य है। मेरा मन ही कुछ विद्रोही रहा है। अतः इन निबंधों में यदि आप यथास्थिति के प्रति कभी-कभी झुँझलाहट, क्रोध या विद्रोह पायें, तो मुझे छमा करें। वाणी की मर्यादा जानता हूँ, किन्तु कभी-कभी बेलौस कह देना भी वाणी की मर्यादा की रक्षा के लिए आवश्यक हो जाता है न?

—श्री रामवृक्ष बेनीपुरी

१

वन्दे वाणी विनायकौ

वाणी को वन्दे, विनायक को वन्दे ! नही, वाणी-विनायक को वन्दे !

तुलसीदास ने इन दोनों को मिलाकर जो वन्दना की, उसका कुछ अर्थ तो होना ही चाहिये ।

वाणी जो विनायकत्व दे सके और विनायक जो वाणी से प्रेरणा ले !

आज वाणी ने विनायकत्व, नेतृत्व खो दिया है और आज के विनायक ने वाणी का तिरस्कार, वहिष्कार करना प्रारम्भ किया है !

आज वाणी विनायक की सहचरी नही, अधिक-से-अधिक अनुचरी है। विनायक की आज्ञा पर वह नाच रही है, गा रही है, वीणा बजा रही है !

और वाणी को इस स्तर पर उतारकर क्या विनायक भी सानन्द और सकुशल है ? उसके पैर भी लड़खड़ा रहे हैं, उसको सदा डर लगा रहता है कि कब वह अपने आसन से भहराकर नीचे गिर पड़े !

ओ मूषक-वाहन, तुम्हारी शोभा तब, जब हंसवाहिनी तुम्हारी बगल में हो ।

तुम लिखते जाओ, वह गाती जाय !

तुमने कलम एक तरफ रख दी, उसने वीणा अलग धर दी !

मूसा बिल्ली के डर से परीशान हो रहा है ! हंस को बगले आँखें दिखा रहे हैं ।

क्या यह स्थिति दोनों में से किसी के लिए शोभनीय है ?

इस स्थिति से उद्धार कैसे हो ?

पहले वाणी को उठना होगा, अपने पर-गौरव को समझना होगा। उसे मानना होगा, विनायक का आदिकारण वह है; पहले वह, तब विनायक।

वह वाणी कैसी, जो विनायकत्व न दे, नेतृत्व न करे !

यह देश तो ऋषियों का है। उन्होंने जो लकीर खींची, उसी पर चलकर लोगों ने विनायकत्व प्राप्त किया !

और, इस विनायकत्व को भी तब स्वीकृति मिली, जब वाणी के किसी वर-पुत्र ने उसे अमरता प्रदान की।

हम जिस राम-कृष्ण की आराधना करते हैं, क्या वे दशरथ और वसुदेव के पुत्र-मात्र हैं ? या अयोध्या और मथुरा के शासक-मात्र !

यदि वाल्मीकि और व्यास न होते, उन्हें वाणी का वरदान नहीं दिया होता, उनका नव-निर्माण नही किया होता, तो वे क्या आज यों घर-घर व्याप्त होते !

वाल्मीकि और व्यास के वंशधर क्या इस गौरव को भूल नहीं गये हैं ?

स्वयं वाणी के वर-पुत्रों ने वाणी के झंडे को झुका दिया है !

वाणी को उस गौरव-आसन पर फिर प्रतिष्ठित करना पड़ेगा।

किन्तु वह तभी सम्भव है, जब हम वाणी को उन उपकरणों से आभूषित करें, जिनकी ओर तुलसीदास ने रामचरित मानस के इस प्रथम श्लोक में संकेत किया है।

वर्ण, अर्थ, रस और छंद—काव्य के ये चार सर्वमान्य उपादान हैं।

किन्तु वाणी में विनायकत्व का समागम तब होता है, जब इन चारों के साथ मंगल जोड़ दिया जाता है !

"मंगलानां च कर्तारौ !"

हाँ, हमारी साधना का चरमविन्दु होना चाहिये, जन-मंगल ! सिर्फ मनरंजन नहीं, जैसा हम मान लिया करते हैं !

मन-रंजन तो साहित्य का स्वाभाविक धर्म है।

उनकी सृष्टि ही ऐसी होती है कि मन-रंजन तो आप-ही-आप सधता है !

जिसमें वर्ण हों, अर्थ हों, रस हों, छंद हों—भला वह मन-रंजन की शक्ति नहीं रखे ?

यदि हमारी वाणी इस कार्य में भी अक्षम है, तो हमें सोचना पड़ेगा, हम इनके प्रयोग में कहीं कोई त्रुटि तो नहीं कर रहे है !

शब्द ब्रह्म है । ब्रह्म की ही तरह वह निर्गुण है । वह सगुण रूप तब धारण करता है, जब हम उसे अक्षरों में बाँधते है ।

बडी तपस्या के बाद ब्रह्म को सगुण रूप धारण करने को वाध्य किया जाता रहा । शब्दों को अक्षरों में बाँधने के लिए भी मानवता को कम तपस्या नहीं करनी पडी—बडी कड़ी, बड़ी लम्बी तपस्या !

किन्तु, ये अक्षर अब हम इतनी आसानी से प्राप्त कर लेते हैं कि हम उस तपस्या को भी भूल जाते हैं ।

उस तपस्या को भुला देने से उनका महत्त्व भी खो देते हैं !

अक्षर अमर हैं—अ-क्षर हैं !

किन्तु हमें अक्षरता से ही सन्तोष नहीं हुआ, हमने अपनी साधना द्वारा उनमें वर्णता का आरोप किया ।

"वर्णनाम्"—इसपर ध्यान दीजिये ।

वर्ण = रंग ।

हाँ, हमने अक्षरों में रंग भरे, उनमें रंगीनियाँ भरीं ।

चित्रकारों के पास सिर्फ सात रंग ।

हमारे पास ४६ वर्ण—१२ स्वर, ३६ व्यंजन और उनके ऊपर ॐ !

इसीलिए हम ऐसे-ऐसे चित्र बना सके, जिनके सामने चित्रकारी की सारी रंगीनियाँ मात ! उसे वाह्य अंगों की भावभंगिमा पर ही सन्तोष करना पड़ा, हम हृदय की अन्तरतम भावनाओं को मूर्त्त रूप दे सके !

फिर चित्रकारों के चित्र लाख चेष्टा के बाद भी क्षणिक; हमारे शाश्वत ।

अंधगुफा में खिचे अजंता के चित्र फीके पड़ गये हैं—धुल-पुँछ गये हैं ।

किन्तु उनके सहस्रों वर्ष पहले की खिची वेदों की उषा-चित्रावली देखिये—

लगता है अभी-अभी उषा देवी सात घोड़ों वाले रथ पर सवार;

मुक्तकुंतल उड़ाती, गुलाबी गालों की आभा से अज-जग को रंगीन बनाती, पंछियों को चहचहाती, बछड़ों को रँभाती, मानवों को कर्म-रत करती, कण-कण में स्फुरण और स्पंदन भरती हमारी आँखों के सामने क्रमशः प्रत्यक्ष हो रही हैं।

हम सोचें, क्या हमारे वर्णों में वह वर्णता रह गई है ?

रंगीन रोशनाई से छपवाने से क्या अक्षरों में वह रंगीनी आ सकेगी ?

जिसकी नीव ही कच्ची, वह इमारत क्या बुलंद होगी ?

अलग-अलग अक्षरों के अलग-अलग-रंग है—इसलिए एक ही अर्थ के भिन्न शब्दों में अलग-अलग रंगीनी है।

इन रंगों को, इन रंगीनियों को पहचानिये !

और सिर्फ अर्थ पर नही जाइये, अर्थसंघ पर जाइये—"अर्थ-संघानाम्" !

अभिधा पर ही नहीं, लक्षणा पर, व्यंजना पर !

वाणी विनायकत्व तव धारण करती है, जब वह अर्थ से ऊपर उठकर अर्थसंघ पर पहुंचती है; अभिधा को इस ठोस पृथ्वी पर छोड़कर लक्षणा और व्यंजना के परों से सातवें आसमान तक की सैर करने की क्षमता अपने में लाती है।

ऐसे वर्ण और यह अर्थसंघ ही रसों की—"रसानाम्"—की उत्पत्ति करते हैं !

रस अनुभूति की वस्तु है, हृदय की वस्तु है !

वाणी की सार्थकता तब सिद्ध होती है, जब वह मस्तिष्क से उतर कर हृदय को आसन बनाती है। हंसवाहिनी को मानस प्रिय है, यह भी क्या समझाने की बात रह गई ?

हमने वाणी को दिमागी कुलाँचों के प्रकटीकरण का साधन-मात्र बना दिया है ! इसीलिए हमारी वाणी चंचल मस्तिष्क में थोड़ी हलचल मचाकर ही उपशमित हो जाती है।

ऐसी वाणी में सरसता कहाँ, विदग्धता कहाँ ?

उसमें वह स्निग्धता और सजलता कहाँ, जिसमें—

"अनबूड़े बूड़े तिरे जो बूड़े सब अंग !"

हृदय से निकली वाणी ही हृदय में घर बनाती है और हृदय में पहुँचकर ही वह अमरता प्राप्त करती है !

और "छंदसाम्+अपि"—छंद "भी" हों, तो क्या कहने ?

किन्तु छंद क्या सिर्फ तुकों का मिलान या मात्राओं और वर्णों का जोड़-घटाव मात्र है ?

हर काव्यमय वाणी में एक स्वाभाविक समथर गति होती है, एक श्रुति-मधुर झंकार होती है। किन्तु गद्य में यह गति, यह झंकार लाना बड़ा ही कठिन काम है—इसी से कहा गया है, "गद्यं कवीनां निकषा वदन्ति !" कवियों के लिए गद्य कसौटी है !

तरह-तरह के वाद्ययंत्रों के सहारे गाने की अपेक्षा अकेला गाना, सिर्फ अपने कंठ से संगीत की मधुर-धारा बहाना, अवश्य ही कठिन कार्य है, दुस्साध्य कार्य है, यह कौन नहीं मानेगा ?

किन्तु नियमबद्ध छन्द ही सब कुछ नहीं है, इसीलिए शायद "छन्द-साम्" के बाद तुलसीदास ने "अपि" जोड़ा था !

जो हो, इन चारों उपकरणों से युक्त वाणी में मन-रंजन की शक्ति होगी ही !

और मंगल की भावना उसमें चार चाँद लगाकर रहेगी !

और ऐसी वाणी को विनायकत्व मिलकर रहेगा—विनायक उसकी उपेक्षा कर स्वयं विनायकत्व से अपने को वंचित कर लेगा !

आज वाणी इन उपकरणों से वंचित हो रही है, फलतः उसकी यह उपेक्षा, यह तिरस्कार !

यंत्रों की बहुलता ने वाणी के सेवकों से साधना की प्रवृति दूर कर दी है। हल्दी लगे न फिटकिरी और रंग चोखा—हमारी यह प्रवृत्ति हो रही है !

यह प्रवृत्ति आत्मवंचना है, इस प्रवृत्ति के वशीभूत हो अनजाने ही हम आत्म-हत्या की ओर तो नहीं दौड़े जा रहे हैं ?

काते और ले दौड़े—किसी भी क्षेत्र में यह मनोवृत्ति सिद्धिप्रद नहीं। माँ-वाणी के प्रागण में यह अक्षम्य अपराध है।

हर सेवा एक तपस्या है, वाणी की सेवा कठोरतम तपस्या ।

तपते जाइये, जलते जाइये । सौ फूँक में सोना ! जिसे कुन्दन बनना है, उसे कितनी फूँक चाहियें ?

अरे, कौन ऐसी प्रतिभा है, जिसे पसीने और आँसू का सागर नही तैरना पड़ा हो !

वाणी के हम वर-पुत्र इस तथ्य को सदा सामने रखें !

वाणी-माता हमसे यही आशा रखती है !

*

२

नया देश : नया समाज : नया साहित्य

वह जो अपना पुराना देश था न, वह १५ अगस्त, १९४७, को ही मर गया और उसकी चिता-भस्म पर एक नया देश बन रहा है बस रहा है !

हाँ, वह पुराना देश मर गया—जो गुलाम था; बूढ़ा था; सडा-गला था ! सदियों के शोषण और दोहन ने जिसे रक्तहीन, मांसहीन, स्नायु-हीन, प्राणहीन, स्पंदनहीन बना दिया था ! वह अस्थिकंकाल मात्र था—ठठरियों के ढेर को, उसके दुर्वह बोझ को हम कब तक ढोते रहते ? इसलिए अभी उस साल बड़े धूमधाम से, नाचते, गाते, बजाते हमने उसे दफना दिया ! बूढ़े की अंतिम यात्रा में आनन्द-उत्सव न किया जाय, यह भी कोई बात होती ! बड़ी शान से हमने उसे समाधिस्थ किया !

उसे समाधिस्थ किया, क्योंकि इस नये युग में, हमें एक नया देश चाहिए—नया देश, जो युवा हो, सबल हो, स्वस्थ हो ! जिसके पैरों में जंजीर न हो, जो स्वतंत्र रूप से विचरण करे, आगे बढ़े, नये-नये अभियान करे। कितनी उत्ताल तरंगें, कितने गगनभेदी शिखर उसके उन पैरों से चुम्बित-मर्दित होने के लिए प्रतीक्षा कर रहे हैं, जिसकी छाती में दम-खम हो, जिसकी भुजाओं में कस-बल हो, जिसकी आँखों में मर्मभेदिनी ज्योति हो—जिसके मस्तक में कितने सुनहले स्वप्न आकुल-व्याकुल चक्कर काट रहे हों ! वह देश, नया देश ! नया देश—जिसमें एक नये समाज के निर्माण की क्षमता हो, साहस हो, सूझ हो। जो आकाश के स्वर्ग को इस पृथ्वी पर उतार सके।

नया देश—नया समाज ! समाजहीन देश मिट्टी का ढेर है। हम कोरी मिट्टी की पूजा नहीं करेंगे। क्यों करेंगे ? मिट्टी सोना तब बन

जाती है—वह अर्जनीया, अर्चनीया, बन्दनीया तब बन जाती है—जब उसपर समाज बसता है। और समाज तब तक मानवों का समूह-मात्र है, जब तक उसी नींव में कोई सपना नहीं हो! सपना? सपनों की खिल्ली उडाने वाले दार्शनिक या वैज्ञानिक भूल जाते हैं कि उनके प्रयास और प्रयत्न स्वयं सपने से प्रेरित हैं। जहाँ सपना नही, वहाँ मानव नहीं। जहाँ मानव नहीं, वहाँ समाज कहाँ और जहाँ समाज गठित न हो सका, वह भूमिखंड, भूमिखंड-मात्र है—देश की संज्ञा उसे मिल नही सकती!

सृष्टि के सुदूर काल में हमें एक देश मिला। उस देश पर हमने एक समाज की सृष्टि की। हाँ, 'हमने'! याद रखिये, भगवान सिर्फ मिट्टी के खिलौने गढ़ता है—तभी तो उसकी कुम्हार से उपमा दी जाती है—वह खिलौना चार पैरों वाला हो; या दो पैरों वाला; या बिना पैरों का—छाती के बल सरकने वाला! यह तो मानव है, जो उन खिलौनों में नये प्राण की प्रतिष्ठा करता है, उन्हें नये ढंग से सँवारता है, सजाता है—समाज बनाता है। तो, समाज हमने बनाया और ज्यों ही समाज बना; लो, मात्रा गुण के रूप में परिवर्तित हुई। बूढ़ा विधाता आकाश से टुकुर-टुकुर देखता रहा; हम फासले पर फासला तय करते गये, बढ़ते गये, ऊपर की ओर चढ़ते गये और जब स्वर्ग को छूने में सिर्फ एक छलाँग की दूरी रह गई थी कि यह क्या हुआ? हमने अपने को एक गड्ढे में पाया—चारों ओर अंधकार; असंख्य दीवारों से घिरे हम किस तरह छटपटाते रहे, कराहते रहे!

किन्तु हम मनु के बेटे क्या यों गिरे-पड़े रह सकते थे? देखो, हम फिर सुखी हवा में हैं—स्वतंत्र हैं, पूर्ण स्वतंत्र हैं।

हम पूर्ण स्वतंत्र हैं और नये सिरे से एक नया समाज बनाने चले हैं, जो पूर्ण स्वतंत्र हो।

देश स्वतंत्र हो और समाज परतंत्र रहे, यह हो नहीं सकता, हो नहीं सकता! पुराना देश परतंत्र इसीलिए हुआ था, कि उसमें समाज परतंत्र था। हम पुरानी गलती को फिर नही दोहराएँगे।

अब देश स्वतंत्र हो—समाज स्वतंत्र हो।

पुराना देश गया, पुराना समाज जाय।

वह पुराना समाज जाय—जहाँ मानव मानव में विभेद है। विभेद—वर्ण का, वित्त का ; आवास का, अवकाश का; विकास का, प्रकाश का ! यह रोगी समाज, कोढी समाज ! यह जीर्ण समाज, यह शीर्ण समाज। जहाँ शरीर बँधा है, जहाँ आत्मा बँधी है ! जहाँ पुरुष बँधा है, जहाँ प्रकृति बंधी है ! नही, नहीं चलो, हम इस समाज को भी उस देश की बगल में ही दफना दें। जिस तरह ताजमहल में मुमताज की बगल में शाहजहाँ दफनाया पडा है !

और हम बनावें एक नया समाज—एक नया ताज !

नया समाज : नया ताज—जहाँ सडाँध न हो, ठंढक न हो, सन्नाटा न हो, अंधकार न हो ! जहाँ जीवन हो, यौवन हो ! आनन्द हो, उछाह हो ! सुगंध हो, सगीत हो ! उन्मुक्त मानवता जहाँ अठखेलियाँ करे; स्वच्छन्द भावनायें जहाँ रास रचायें।

हाँ, नये समाज के साथ ताज गुँथा हुआ है ! किन्तु ताज पत्थरों का नहीं—जिसे हवा के थपेडे. प्रकृति के प्रहार, रह-रह कर खतरे में डाल दें। ताज अक्षरों का, जिसका क्षय नही, जो अजर हो, अमर हो।

अक्षरों का ताज—नया साहित्य !

नया समाज अपनी नीव के लिए नया सपना खोज रहा है।

यह नया सपना कौन देगा ? नया साहित्य !

पुराने साहित्य ने पुराने सपने दिये थे—हम ऊपर तो उठते गये, किन्तु अचानक लुढ़क पड़े। उसमें सिर्फ ऊँचाई थी ! चौड़ाई नही, मुटाई नही !

अब हमें नया साहित्य उत्पन्न करना है—जिसमें सिर्फ तीन "डाइमेंसंस" न हों, हों चार डाइमेंसंस ! लंबाई, चौडाई, मुटाई के साथ जो समय के घेरे को भी अपने में निहित करे।

नया साहित्य ! जो सम्पूर्ण समाज की सम्मिलित वाणी हो—किसी वर्ण, वर्ग या व्यक्ति की ध्वनि, प्रतिध्वनि नही !

नया साहित्य—जिसमें विचार और भावना एक सूत्र में गुँथे हों। जो पृथ्वी के ओसकण से आकाश के इन्द्रधनुष का सम्बन्ध जोड़े। जो सूर्य-रश्मियों की स्वर्णिमा को राका की रजतिमा में घुला-मिला सके। जहाँ

रंग, गंध और गीत समान अर्थवाची शब्द बन जायँ !

नया साहित्य—कालातीत साहित्य, शाश्वत साहित्य—जिसे कोई युग अपने घेरे में नही बाँध सके।

आज एक कालिदास, एक तुलसी, एक रवीन्द्र पर नाज कर रहे हो, इठला रहे हो ! अरे, नया साहित्य तुम्हे गाँव-गाँव, गली-गली में ऐसे साहित्यकार देगा जिनके कर्तृत्वों पर इनके कर्तृत्व बच्चों के खिलवाड़ लगेंगे।

ऐसा कहकर हम अपने पूर्वजों का अपमान नही कर रहे हैं। हम बड़े होगे, ऊँचे होगे, क्योंकि हम इनके कंधों पर खड़े होंगे !

इमारत की महिमा नीव की महिमा है !

हमारा पुराना साहित्य इतना विशाल रहा ; इसी से हमें मान लेना चाहिये, हमारा नया साहित्य उस विशालता तक पहुँचकर रहेगा जिसकी हम आज तक कल्पना भी नही कर पाते !

नया साहित्य, नया समाज, नया देश ! या, नया देश, नया समाज, नया साहित्य। आज का नारा यही है !

यह प्रगति का नारा है, यही जीवन का नारा है।

इस नारे से घर-आँगन को गुंजित कर दो !

३

साहित्य की उपेक्षा

हम साहित्य को अपने जीवन में वह स्थान नहीं देते, जिसका वह हकदार है। हम साहित्य को एक फालतू चीज समझते हैं। किसी व्यक्ति की राय का मखौल उड़ाना हो, तो आप कह दीजिये—यह साहित्यिक ठहरे न? साहित्य को हम फुर्सत की, तफरीह की चीज मानते हैं। घर में बेकार बैठे हैं, वक्त काटे न कट रहा है—आइये, किसी साहित्यिक कृति के पन्ने उलट लें। आज जी उदास है, मन भारी है, किसी काम में चित्त नहीं लग पाता—चलिये, बगल के किसी साहित्यिक दोस्त से दो-दो बहकी बातें कर आयें। वह साहित्यिक यदि कवि हुआ, तो फिर क्या कहना?

साहित्य की इस उपेक्षा, इस मखौल के लिए कुछ तो हम साहित्यिक खुद दोषी हैं। हम साहित्यिक स्वयं अपने अस्तित्व का महत्त्व और गंभीरता अनुभव नहीं करते। अपने को सृष्टि का एक अद्भुत जीव मानकर उसी के अनुरूप अपनी वेष-भूषा, आचार-व्यवहार तक रखने लगे हैं। हम साहित्यिक हैं, इसलिये हमारी पोशाक में एक विचित्रता होनी चाहिए; हमारे कपड़ों पर पान के धब्बे हमारी शोभा हैं; टिन के टिन सिगरेट फूँक जायें, तो बुरा क्या? हम शराब भी पी सकते हैं, दुराचार के लिए भी हमें थोड़ी माफी मिलनी चाहिये! बताइये, ऐसे जीवों को कोई समाज अपने यहाँ प्रतिष्ठा और गम्भीरता का पद कैसे दे सकता है?

दूसरा कारण यह है कि हमारा यह युग राजनीति का युग है। कल तक हम पर बलिदान का भूत सवार था, आज प्रभुता की चुड़ैल सवार है। गुलाम देश जब अपनी ज़ंजीरें तोड़ने में लगा था, तब उसकी आँखों

के सामने कोई दूसरी चीज दिखाई नही पड़े, तो अचरज नहीं। और आज जब हम भुखमरों के सामने छप्पन व्यंजन परोसे गये हैं, तो खा-खाकर बदहजमी कर लें, तो ताज्जुब की क्या बात ? राजनीति हम पर इस तरह छाई रही है कि दूसरी ओर ध्यान देने की हम फुर्सत ही कहाँ पाते थे ?

किन्तु जीवन में जो साहित्य का स्थान है, उससे आप ज्यादा दिनों तक उसे वंचित नही रख सकते। अभी तक आपने उसे वंचित रखा, उसी का कारण है कि आप प्रवंचना में पड़े हुए है।

दो पाँव, दो हाथ, दो आँख, दो कान, की तरह ही हमारे जीवन की प्रमुख संचालिका शक्ति एक नही, दो है। एक है बुद्धि, दूसरी भावना। एक का उद्गम स्थान मस्तिष्क है, दूसरे का हृदय। एक का चरम विकास विज्ञान है, दूसरे का कला। हो सकता है किसी में बुद्धि का ज्यादा अंश हो, फलतः विज्ञान की ओर ही उसका झुकाव हो; यों ही भावना की प्रबलता किसी को कला का ही उपासक बना दे। किन्तु, फ्रायड ने हमें बताया है, हर मर्द में औरत है और हर औरत में मर्द—उसी तरह आप हर वैज्ञानिक में कलाविद् पायेंगे और हर कलाविद् में वैज्ञानिक। यह हो नही सकता कि किसी में बुद्धि-ही-बुद्धि हो, वह भावना से परे हो! और, हर भावुक को बुद्धिहीन मान लेना कोई बुद्धिमानी की बात नही है, यह तो आप मानेंगे ही।

हमारी जिन्दगी की गाड़ी बुद्धि और भावना—इन दो पहियो पर चल रही है। आप बुद्धि की ओर तो ध्यान दे रहे हैं; किन्तु, भावना की उपेक्षा कर रहे हैं! उसका फल भी आपको चखना पड़ रहा है।

बुद्धि के विकास और परिष्कार के साथ भावना को विकसित और संयमित करने की शिक्षा की भी आवश्यकता है। असंयमित भावना हमें गहरे गर्त में गिरा दे सकती है। विकसित बुद्धि अविकसित भावना को लेकर बड़ी से-बड़ी खुराफात करा सकती है! भावना के विकास के लिए कला की शरण लेनी पड़ेगी। हमारी शिक्षण-पद्धति में इस सिद्धान्त को आंशिक रूप में मान लिया गया है। शिक्षा-पद्धति में साहित्य के अध्ययन के लिए खास स्थान रखा गया है। किन्तु, ज्यों ही हमने शिक्षा

समाप्त की, हम साहित्य से पूरा-पूरा मुँह मोड़ लेते हैं, यह गलत बात है। इसमे व्यक्ति और समाज दोनों की हानि होती है।

साहित्य हमारी भावना को परिष्कृत करता है, हम में सुरुचि लाता है, हमारे चरित्र में स्निग्धता लाता है—संक्षेप में वह हमें संस्कृत बनाता है। इस आधार को छोड़कर आप एक सुसम्पन्न समाज के निर्माण की कल्पना कर नही सकते। एक पहिये पर अपने जीवन-रथ को आप घसीट नही सकते। जिस दिन आप इस सत्य को समझ जायँगे, उसी दिन साहित्य की उपेक्षा आप में से दूर हो जायगी।

साहित्य हमारे भावना-लोक से पैदा होता है। मनुष्य का भावना-लोक उसके बुद्धि-लोक की ही तरह विस्तृत है, विशाल है। उसमें अनेक क्षेत्र हैं। उसका एक-एक क्षेत्र अपनी रंगीनी और सुख-साधन में हजार-हजार स्वर्गलोक को मात कर दे सकता है। भावना की अनुचरी है कल्पना। स्वर्गलोक भी तो एक कल्पना-लोक है। फिर हम स्वर्गलोक को भी भावना-लोक का एक अग क्यों नही माने ?

भावना-लोक के उन अनेकानेक क्षेत्रो को लोक-लोचन के सामने प्रत्यक्ष करके दिखाना कोई सहज बात नही है। यह अलौकिक कर्म है। ईश्वरीय विभूति से युक्त मानव ही यह कर्म कर सकता है। इसलिए हमारे शास्त्रों ने ईश्वर के समकक्ष ही कवियों और मनीपियों को रखा है।

यों तो मनीषियों और कवियों का महत्त्व समाज के लिए एक-सा है ; किन्तु मनीषियो पर कवियों को एक श्रेष्ठता प्राप्त है। बुद्धि का संसार बहुत ही सूक्ष्म है, फलतः शुष्क है। इसलिए सर्वसाधारण का प्रवेश वहाँ सम्भव नही। भावना के संसार में रंगीनियो की भरमार है, अतः सुखानुभूति सबके लिए सुलभ है। नतीजा यह कि आज तक हम कपिल और कणाद को उतना नही जानते, जितना वाल्मीकि और व्यास को। और यह सवाल भी तो है ही कि हमारे समाज को अधिक प्रभावित किसने किया —कपिल-कणाद ने या वाल्मीकि-व्यास ने ?

लेकिन मैं मानता हूँ, आज के हम साहित्यिक ऐसे नही लगते कि हमें वाल्मीकि या व्यास के वंश से माना जाय ! हमने अपनी सूरत बिगाड़

ली है, चलन बिगाड़ लिया है। अंगरेजी साहित्य में आस्कर वाइल्ड और उसके सम-सामयिकों ने जिस उच्छृङ्खलता की सृष्टि की, हम उसके शिकार हो गये हैं ? अंगरेजी साहित्य में आस्कर वाइल्ड के उन विचारों का आज कोई पुरसाँ-हाल नहीं; किन्तु, हम लकीर पीटते जा रहे हैं। उल्का की पूजा कभी नही हुई ! हम यदि साहित्य के चॉद-सूरज नही बन सकते, तो धूमकेतु बनने की चेष्टा नहीं करें। न तो यह भारतीय आदर्श है, न ससार के किसी भी सभ्य समाज का आदर्श। साहित्य भी एक साधना है, हम साधक बनें—सच्चे साधक। फिर हमारी, और हमारी कृतियों की उपेक्षा हो नहीं सकती। तब हम फुर्सत और तफरीह की चीज न रह जायँगे—बल्कि जीवन के आधे अंश के अधिकारी समझे जाकर मानवता की सारी प्रतिष्ठा और पूजा का आधा अंश हमें अनायास प्राप्त होगा।

"कला-कला के लिए" का जो गलत नारा दिया गया, वह नारा यूरोप में कब न अपनी बुलन्दी खो चुका—किन्तु, हम उसी का अन्धअनुसरण करते जा रहे हैं। कारण क्या है ? हमारे साहित्यिक एक नई दिशा की ओर इगित कर रहे हैं—वह दिशा स्पष्ट हो नही पाई है। फलतः समाज उस ओर सम्यक् ध्यान दे नही रहा है। इसी से खीझकर अपनी पराजय के प्रतिकार के लिए, हमने इस नारे को अपनाया है। तुम हमारी बात नही सुनते, तो नही सुनो—हम कहे जायँगे ! हम कला का निर्माण कला के लिए कर रहे हैं !

यह बच्चों की मनोवृत्ति है। साहित्य भी समाज की ही पैदावार है। नये वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रति भी प्रारम्भ में उपेक्षा हुई, तो वैज्ञानिकों ने न उन आविष्कारों को छोड़ा, न अपने सिर फोड़े ! धीरज से काम लिया, विजयी हुए। हम में, जो साहित्य में नई दिशा की ओर बढ रहे हैं, उनमें धीरज चाहिए। लोक हमारी ओर आयेंगे ही, आ रहे हैं।

हम साहित्यिक कही आसमान से नहीं उतरे हैं—हम सृष्टि के कोई विशिष्ट जीव नही हैं। साधारण लुहार, सोनार की तरह हम समाज के शिल्पी हैं और समाज के लिए निर्माण करते हैं। हमारे अपने औजार हैं, अपनी टेकनिक है। हमारा औजार संसार के सभी औजारों से बारीक है, तुनुक है। हमारी टेकनिक बड़ी ही कोमल है, सुकुमार और पेचीदी भी

है ! जरा सोचिये, तो उजले कागज पर काली रोशनाई से हूबहू इन्द्र-धनुष की सृष्टि करना—जिसमें सब रंग अलग-अलग चमकें ! टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं में प्रेम, घृणा, क्रोध, ग्लानि आदि भावों को यों लपेट देना कि आज भी वे हमारे हृदय को पुलकित, उद्वेलित उच्छ्वसित और द्रवित कर दें—यह कमाल किसका है ? यही कमाल है जिसने समाज के अन्य शिल्पियों पर हमारी श्रेष्ठता सिद्ध की। समाज ने इसे स्वीकार किया है—उसे करना पड़ा है !

हम साहित्यिक समाज के सबसे लाड़ले बच्चे हैं। हमारे नटखटपन ने कभी हमें चपतें भी खिलाई हों ; किन्तु, घर की सबसे अच्छी चपातियाँ, मक्खन में चुभोकर, हमें दी गई हैं। किसी शेली, किसी कीट्स के कान समाज ने उमेठे, तो आज उनकी स्मृति-मूर्ति को हृदयासन पर बिठाकर षोडशोपचार पूजा भी वही दे रहा है। माँ-भारती की आराधना व्यर्थ नही जाती, साहित्य की साधना एक दिन मनोवाछित वरदान समाज से प्राप्त करती ही है।

साहित्य और समाज में माँ-बेटे का सम्बन्ध है। जैसे-जैसे समाज विकसित होता है, साहित्य का विकास उसी क्रम से होता जाता है। हमारा भारतीय समाज संसार के प्रचीनतम समाजों में है। यह हमें ही गौरव प्राप्त है कि मानवता की प्रथम वाणी से लेकर आज तक के साहित्य के क्रम-विकास को समझने के लिए हमारे पास ही धरोहर है, अन्यत्र कही नही। मानवों के आदि पूर्वज जब जंगलों में रहते थे, तब से आज तक के, मशीन-युग तक के, मानवों के कण्ठ से निकली अजस्र साहित्य-धारा में जिसे अवगाहन करना होगा, उसे भारत में ही आना होगा। किन्तु, हमने स्वयं ही अपनी धरोहर का महत्त्व नही समझा है, तो दूसरा क्या समझेगा ?

जिस तरह पं० जवाहरलाल नेहरू ने 'भारत का अनुसंधान' किया है, उसी तरह, काश, कोई विद्वान् हमारे साहित्य का भी पुनः संधान करने का कष्ट करता ! उफ्, वह एक अनमोल चीज़ होती।

एक बार जेल में अपनी इस साहित्य-धारा की एक झलक पाने की मैंने कोशिश की। जंगली जातियों के गीतों से लेकर आज तक की

साहित्यिक रचनाओं पर एक विहंगम दृष्टि डाली। मुझे ऐसा लगा कि मैं गंगा की धारा पकड़कर उसमें तैरता हुआ आगे बढ़ रहा हूँ।

जंगलों के गीत—छोटे-छोटे वाक्य; सीधी-सादी उपमायें, गीत-गीत—नृत्य-नृत्य! मानो, गंगा अभी-अभी गोमुखी से कूद रही हो! फिर वेद, ! गति तो यति भी—शब्दों में गम्भीरता, धारा में विस्तार, कल्पना की उड़ान, रूपक और उत्प्रेक्षायें—मानो गगा अब हरद्वार में आ गई है। और यह कालीदास है—गगा आधी मंजिल पार कर काशी आ चुकी। एक सभ्यता अन्तिम साँस ले रही है, दूसरी निर्माण पा रही है। एक का प्रतिनिधित्व शकुन्तला कर रही, दूसरी का दुष्यन्त! जनपद समाप्त हो रहा है—भरत पैदा हुआ, अब एक देश (भारत) बनने जा रहा है। रघुवंश की दिग्विजय, मेघदूत का व्योम-विहार, कुमारसम्भव की केलि-क्रीड़ा। भारतीय समाज अपने ओज पर है। उसका साहित्य जमीन-आसमान को एक कर रहा है। फिर तुलसीदास—पटना की गंगा! सारी नदियों से वह खिराज वसूल कर चुकी है—"नाना पुराण निगमागम सम्मतम्!" कितनी वृहत्, कितनी विशाल! हमने अभी तुलसी का महत्त्व नहीं समझा! और अब वह सहस्रमुखी होकर सागर से मिलने जा रही है, जिसके प्रतीक हैं कवीन्द्र रवीन्द्र।

कवीन्द्र रवीन्द्र ने हमारे साहित्य को विश्व-साहित्य से सम्मिलित करा दिया है। गोमुखी से निकली धारा अब सागर से मिलकर संसार-भर के तटों को चूमेगी। इसलिए हमारे साहित्यिकों की जिम्मेवारी और बढ गई है। अपने साहित्य का स्तर हमें ऊँचा करना है, अपनी टेकनिक को आधुनिकतम रूप देना है। तभी संसार में हमारी पूजा होगी।

पर यहाँ एक बात कह दूँ—विश्व-सहित्य की ओर का मतलब यह नहीं है कि हम अपने गाँवों को, गलियों को, झोंपड़ों को भूलकर लन्दन, न्यूयार्क या मास्को के महलों के गीत गाने लगे। विश्व-साहित्य का यह मानी कभी नहीं है। पर्ल बक की "गुड अर्थ" एक देहाती चीनी परिवार की रोज़ाना जिन्दगी से मतलब रखती है, तो भी उसकी गणना विश्व-साहित्य के उच्चतम ग्रन्थों में है। विश्व-साहित्य होने के लिए कला में मानवता और टेकनिक में विशेषता चाहिये—उसकी पृष्ठ-भूमि जितनी

ही स्थानीय रहेगी, उतनी ही वह अच्छी समझी जायगी।

हमारा देश एक नये युग के दरवाजे पर खड़ा है। यह युग महान् होगा, उसका साहित्य भी महान् होना चाहिये।

उस महान् साहित्य के सृजन के योग्य हम साहित्यिकों को अपने को बनाना है। पश्चिम के वैज्ञानिकों ने जिस तरह भौतिक साधनों के उपभोग के लिए नये-नये औजार बनाये हैं, उसी तरह वहाँ के साहित्यिकों ने साहित्य-सृजन की नई-नई टेकनिकों का आविष्कार किया है। भौतिक जगत् में जिस तरह हम उनकी टेकनिकों का उपयोग कर रहे हैं, साहित्य-जगत् में भी हमें करना ही चाहिये। लेकिन हम उनसे सिर्फ टेकनिक लें, हमारी रचना की आत्मा तो भारतीय होनी ही चाहिये।

एक साहित्यिक की लेखनी सिर्फ लेखनी नहीं है--वह तलवार भी है, नश्तर भी ; कुदाल भी है, और झाड़ू भी। गन्दगियों को हमें साफ करना है, बञ्जर भूमि को कोड़ना है। सड़े घावों को चीरकर पीव निकाल देना है। जहाँ भी अत्याचार हो, बेमुरौवत उसका सिर धड से अलग कर देना है। तभी हम एक सुन्दर समाज की रचना कर सकेंगे, तभी उस समाज में हम सुन्दर साहित्य का निर्माण करेंगे।

उस नये, सुन्दर, विश्व-व्यापी साहित्य के सृजन में हम तल्लीन हो जायँ, फिर देखना है, कौन हम शारदा के वर-पुत्रों की उपेक्षा करता है ?

४

पुरानी कथायें : नये रूप !

जब कोई लेखक किसी सृजनात्मक साहित्य—काव्य, उपन्यास, नाटक की रचना की ओर प्रवृत्त होता है, उसके सामने पहला प्रश्न यह होता है कि वह अपनी कथावस्तु कहाँ से ले।

कथावस्तु का पहला भंडार तो उसका अपना मस्तिष्क है, जहाँ उसके कितने ही अनुभव जाने-अनजाने भिन्न-भिन्न कल्पना-मूर्तियों के रूप में संग्रहीत होते हैं और वह उन्हें वहाँ से निकाल कर अपने लिए पात्र-पात्रियों और उनके इर्द-गिर्द मनमानी कथाओं की सृष्टि कर सकता है।

यहाँ वह सर्वतंत्र स्वतंत्र होता है। पात्रों के चरित्र और कथा के विकास का वह जैसा चाहे रूप दे। यह उसके अनुभवों की व्यापकता और कल्पनाशक्ति की उर्वरता पर निर्भर करता है कि उसकी पात्र-पात्रियाँ या उसकी कथायें कहाँ तक उसके पाठकों के हृदयों को अभिभूत करती हैं या वह किस हद तक सफल या असफल कहलाता है।

कथावस्तु का दूसरा भंडार है उस समय की लिखित या अलिखित आख्यायिकायें। अलिखित आख्यायिकायें वे,—जो लोगों में प्रचलित तो हों, किन्तु जिन्हें तब तक साहित्य में स्थान पाने का सौभाग्य नही प्राप्त हुआ हो। ऐसी आख्यायिकाओं को नये रूप देने में भी वह बहुत कुछ स्वतंत्र होता है।

किन्तु जब वह लिखित आख्यायिकाओं की ओर आता है, तब उसके सामने एक विकट प्रश्न आता है, वह किस हद तक उनमें परिवर्तन या परिवर्द्धन कर सकता है?

आलोचकों का एक दल है जो उसका हाथ पकड़ता और कहता है, बस यही तक, इसके आगे नहीं! वह तर्क पेश करता है, यह पात्र या

पात्री या उसकी कथा इसी रूप में चली आई है, अक्षरों में आकर वह अक्षरता प्राप्त कर चुकी है, तुम कौन होते हो कि इसमें परिवर्द्धन या परिवर्तन कर सको ? यदि स्वतंत्रता चाहते हो, तो तुम्हें कौन मना सकता है नये पात्र या नई कथा गढ़ने से ? यदि इतनी शक्ति नही है, तो कलम रख दो, बैठ जाओ ! तुम्हें हमारे पुण्य पुरुषों, हमारी आदर्श नारियों के रूप और चरित्र को विकृत करने का कोई अधिकार नही है ।

मेरा खयाल है, ऐसे आलोचक सदा रहे होगे, हाँ, आज उनकी संख्या अवश्य बढ गई है । किन्तु, ऐसे आलोचकों के बावजूद संसार के बड़े-से-बड़े साहित्य-स्रष्टा ने पुरानी लिखित आख्यायिकाओं को लिया और उनका मनमाने ढंग से परिवर्तन और परिवर्द्धन भी किया और आश्चर्य की बात यह है कि इन परिवर्द्धनों और परिवर्तनों के कारण ही वे आख्यायिकायें और उनके पात्र आज अमर है, लोगों के हृदयों और जिह्वाओं पर हैं ।

प्राचीन भारतीय साहित्य में "महाभारत", "रामायण" और "श्रीमद्-भागवत्" ये तीन ऐसे स्रोत रहे हैं जिनसे हमारे साहित्य-सृष्टा कथायें लेते रहे हैं । इन तीनों ग्रंथों के साथ धार्मिक भावना जुड़ी रही है और इनके कितने पात्र देवत्व और ईश्वरत्व तक प्राप्त कर चुके हैं । अतः सबसे पहले हम यह देखें कि इनसे कथावस्तु लेते समय हमारे साहित्य-कारों ने कौनसी नीति अपनाई !

महाभारत में शकुन्तला का उपाख्यान है । जन्मेजय की जिज्ञासा की तृप्ति के लिये महर्षि वैशम्पायन ने तीन-साढ़े तीन सौ श्लोकों में यह कथा महाभारत में बताई है । वहाँ कथा बड़ी सीधी-सादी है । दुष्मन्त (दुष्यन्त नही) नामक राजा शिकार को जाता है, कण्व के आश्रम में पहुँचता है, शकुन्तला उसकी अभ्यर्थना करती है, दोनों में गन्धर्व विवाह होता है, राजा राजधानी को लौटता है । कण्व जब आश्रम में आते हैं, यह समाचार सुनकर प्रसन्न होते हैं । कालक्रम से कण्व के आश्रम में ही भरत का जन्म होता है, फिर कण्व पुत्र सहित शकुन्तला को राजा के पास भेजते हैं । राजा कुछ हिचकता है, किन्तु पुरोहित के विश्वास दिलाने पर सपुत्र शकुन्तला को सादर ग्रहण करता है ।

कहाँ, यह सीधी-सादी कथा और कहाँ कालिदास का अभिज्ञान-

शाकुन्तलम् ! इस सीधी-सादी कथा में न सखियाँ हैं, न दुर्वासा हैं, न अंगूठी है, न मछली है, न राजा की विस्मृति है, न कश्यप के आश्रम में भरत का जन्म है, न उसका सिंह-शिशुओं से खिलवाड है ! क्या महा-भारत की कथा को ज्यों-का-त्यों लेकर कालिदास उस साहित्यिक कृति का निर्माण कर पाते, जिसे अनुवाद रूप में देखकर गेटे चिल्ला उठा था,—अद्‌भुत, परम अद्‌भुत !

वाल्मीकि की रामायण और तुलसी के मानस में कितना अन्तर है ? कथा के जिन-जिन स्थलों के कारण मानस मानस है, वे सब तुलसी के कौशल है। जनकपुर की पुष्पवाटिका में राम-सीता की झाँकी का जो वर्णन तुलसीदास ने दिया है, उसकी चर्चा भी वाल्मीकि में नही है और यदि एक इसी प्रसंग को हटा दीजिये, तो मानस कितना छूँछा लगे। फिर उसी रामायण से एक प्रसग लेकर माइकेल मधुसूदन ने जिस "मेघनाद वध" की सृष्टि की, उस पर ध्यान दीजिये, तो स्पष्ट हो जायगा, पुरानी कथाओं को नये रूप देने में ही नही, उनके प्रमुख पात्रों के चरित को नये साँचे में ढाल देने में भी, साहित्यकार को कितनी स्वतन्त्रता प्राप्त रही है।

यही हाल श्रीमद्‌भागवत् का भी है। वहाँ राधा नाम की एक गोपिका की चर्चा तो आई है किन्तु उस राधा को लेकर एक बिल्कुल नवीन चरित का निर्माण तो पीछे के साहित्यकारों ने किया। और हमारे सूर ने बालगोपाल की जो छवि आँकी, वह तो उस अंधे की ही अपनी सूझ-बूझ है !

कुछ आलोचक कहते हैं, हाँ, पौराणिक कहानियों में तो इन बातों के लिए गुञ्जायश की जा सकती है, किन्तु जब तुम ऐतिहासिक पात्रों को लो, तब तुम्हें अपने को इतिहास की लक्ष्मण-रेखा के भीतर ही रखना होगा। इनका मतलब शायद यह हो कि पुराणों के उन चरित्रों को तो तुम भ्रष्ट भी कर लो, जो देवत्व तक प्राप्त कर चुके हैं, या ईश्वरत्व की भी जिनमें कल्पना की जा चुकी है; किन्तु इतिहास के उन पात्रों को मत छुओ जो मानवमात्र थे, और वीर या प्रेमी के रूप में जिनके चरित्र का एक छोटा-सा भाग ही संसार के सामने आ सका, अधिकांश भाग

तो पर्दे के भीतर ही सड़-गल गया। निस्सन्देह, ऐसी बेमतलब की बात पर साहित्य-स्रष्टा को हँसी ही आयगी।

शेक्सपीयर ने इङ्गलैण्ड के इतिहास के आधे दर्जन पात्रों को अपने रंगमंच पर उतारा, किन्तु, इतिहास को रटने वाले देखें, इतिहास के उन पात्रों ने रंगमंच पर आकर कौन-से रूप धारण कर लिये हैं? हमारे प्रसादजी ने भी, हमारे कितने ही महापुरुषों को नाटकीय रूप दिया है, किन्तु क्या इन नाटकों में उनके रूप वही हैं, जिन्हें हम इतिहास के पन्नों में देखते आये? और कौन कह सकता है कि यदि शेक्सपीयर और प्रसाद नही होते, तो रिचार्ड सेकेण्ड या स्कन्दगुप्त लोगों के हृदयों में वह स्थान प्राप्त कर पाते, जो उन्हे इन महान् नाटककारों के कारण अनायास ही प्राप्त हो गया है!

इतिहास केवल घटनाओं का इतिवृत्त कहता है, किन्तु साहित्यकार उन घटनाओं के स्रष्टा के हृदय में पहुँच कर उनके स्रोत को पकड़ने की चेष्टा करता और उनकी धाराओं की लहरियों को उनकी पूरी रंगीनियों के साथ लोक-लोचन के समक्ष उपस्थित करता है। उसके हाथों में पडकर रूखी-सूखी घटनायें सरस-सुन्दर और उसके निष्पन्द-निष्प्राण पात्र सजीव साकार हो उठते हैं। यों कहिये कि वह पाषाण-प्रतिमा में प्राण-प्रतिष्ठा करता है, बालू पर खिची लकीरों को पयस्विनी बना डालता है। प्रतिमा बोल उठती है, सूखी लकीरें कल-कल छल-छल कर उठती हैं।

मै मानता हूँ, इसकी भी सीमा होनी चाहिये, किन्तु मेरा कहना है, हर चीज की एक सीमा तो होती ही है। साहित्यकार भी अपनी सीमा जानता है, लेकिन वह यह भी जानता है कि उस सीमा के अन्दर उसे कितनी स्वतन्त्रता है। जब प्रसादजी अपने ऐतिहासिक नाटक लिख रहे थे, मुझे उनका सान्निध्य प्राप्त करने का सौभाग्य हुआ था। सिर्फ पात्रों पर ही नहीं, उनकी वेष-भूषा की क्या बात, उनके मुँह से निकले एक-एक वाक्य पर उनका ध्यान था। किन्तु, इन सबके बावजूद उनका चन्द्रगुप्त उनका अपना चन्द्रगुप्त और उनकी ध्रुवस्वामिनी उनकी अपनी ध्रवस्वामिनी है। चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी को उन्होंने एक नया

व्यक्तित्व दिया है, जो इतिहास के चन्द्रगुप्त या ध्रुवस्वामिनी से कहीं अधिक आकर्षक और मोहक है।

यहाँ जरा हम इसपर भी विचार करें कि आखिर साहित्य-सृष्टा पुरानी कथाओं की ओर जाता क्यों है ? या तो कथानक के प्रति श्रद्धाभक्ति या आस्था उसे उस ओर ले जाती है या स्वयं कथा में ही वह उस चमत्कार को पाता है जिसका विकास करके अपनी अनुभूतियों, विचारों या भावनाओं को मूर्तरूप देने में उसे सहूलियत मालूम होती है। यदि कथा-नायक के प्रति उसकी श्रद्धाभक्ति हुई, तो उसमें वह ऐसे गुणों का आरोप करना चाहता है जिसपर मल लेखक ने ध्यान नहीं दिया, किन्तु जिसके बिना वह उस नायक को कुछ अधूरा मानता है। और, गुण के आरोप के लिए कथा में कुछ नई कड़ियाँ जोड़ना लाजिम हो जाता है। वाल्मीकि के राम से ही तुलसी को सन्तोष नहीं था, उस राम को वह नये रूप में गढ़ना चाहते थे, इसलिए उनकी राम-कथा ने भी नया रूप धारण कर लिया। और उसी राम-कथा में उर्मिला के अस्तित्व का अभाव इतना खटका कि गुप्तजी को "साकेत" की रचना करनी पड़ी !

जब लेखक अपने विचारों, भावनाओं और अनुभूतियों का साकार करने के लिये पुरानी कथाओं को लेता है, तब और भी विचित्र घटना घटित हो जाती है। पुरानी कथाओं के अधिकाश भाग को छोड़कर वह अपना ध्यान उसी ओर केन्द्रित करता है जिसके द्वारा उसके विचार, भावना या अनुभूति अधिक-से-अधिक विकास पा सकें। तब तो वह पुरानी बोतल में बिल्कुल नई शराब भर देता है।

फिर साहित्य-स्रष्टा की कुछ कठिनाइयाँ है, जिनका अनुभव बेचारे आलोचकों को नहीं होता। तुलसीदास ने कहा है—"बाँझ कि जान प्रसव की पीड़ा"। किसी कलाकृति के निर्माण में उसके स्रष्टा को हृदय और मस्तिष्क के जिन आड़ोलनों से गुजरना पडता है और पग-पग पर जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, काश, उसके प्रशंसकों और निन्दकों को उनका ज्ञान होता। किसी कथा को ले लेना सहल है, किन्तु कला के चक्के पर चढ़ने पर उसका रूप आगे चलकर क्या होगा, वह

स्रष्टा पर भी निर्भर नहीं करता। निर्माण की प्रक्रिया में ही ऐसी-ऐसी बातें आ जाती हैं, जिनकी पहले कल्पना भी नहीं की जाती। फिर टेकनिक की कठिनाइयाँ भी हैं। शकुन्तला पर आख्यान लिखना एक बात है और नाटक या काव्य लिखना बिल्कुल दूसरी बात। तीनों की शकुन्ताल तीन रूप की हो जायगी। कालिदास ने नाटक नहीं लिख कर शकुन्तला पर काव्य लिखा होता, तो वह शकुन्तला निस्सन्देह किसी दूसरी रूपरेखा की होती। फिर युग का प्रभाव भी लेखक पर पड़ता ही है। यदि कालिदास फिर अवतार लें, इस युग के वातारण में पलें और फिर से शकुन्तला लिखने लगें, तो वह शकुन्तला तीसरी ही शकुन्तला होगी, हमें यह निर्विवाद मान ही लेना चाहिये।

जो देश जितना प्राचीन होता है, वहाँ कथाओं का उतना ही बड़ा भण्डार सञ्चित होता जाता है। उस भंडार से लाभ नहीं उठाना मूर्खता होगी। हमारे पूर्वज उनसे लाभ उठाते रहे हैं, हमें भी उनका उपयोग करना है। जिन तीन महाग्रन्थों की चर्चा हो चुकी है, उनमें अब भी इतनी कथायें हैं कि बहुत दिनों तक हम उनकी नींव पर नई-नई इमारतें बनाते रहेंगे। बौद्ध और जैन साहित्य की सहस्रों कहानियाँ तो अभी अछूती पड़ी हैं। फिर हमारे इतिहास के कितने नायक और हमारी भूमि के कितने खण्डहर हमारी लेखनी की प्रतीक्षा आकुलता से कर रहे हैं।

हाँ, पुरानी कथाओं को नया रूप देते समय कुछ खास बातों पर तो ध्यान देना ही होगा। सबसे पहले उस समय की सामाजिक प्रवृत्तियों का गहरा अध्ययन करना चाहिये। कथा से सम्बद्ध ग्रन्थों का अनुशीलन और स्थानों का निरीक्षण किये बिना तो तत्सम्बन्धी रचना की ओर प्रवृत्त भी नहीं होना चाहिये। ऐतिहासिक घटनाओं के मूल पर विचार नही करने से तो प्रायः ही अनर्थ होते रहे हैं। यदि इतनी बातों पर ध्यान रख लिया गया, तो उन पुरानी कथाओं के आधार पर ऐसी-ऐसी साहित्यिक कृत्तियाँ तैयार की जा सकती हैं, जो उनके रचयिताओं को अमरता देकर रहेंगी !

५

साहित्यिकता और साधुता

जिसमें साधुता नहीं, वह साहित्यिक नहीं, हमारी यह मान्यता रही है। हिन्दी-साहित्य तो इसका जीवित प्रमाण है। कबीर, सूर, तुलसी, मीरा—ने हमारे श्रद्धाभाजन सिर्फ इसलिये नही हैं कि ये बड़े कवि थे, बल्कि इसलिये भी कि इनके जीवन में साधुता थी। जीवन की साधुता साहित्य में हृदय की वाणी उतार पाती है, वह सिर्फ दिमागी कुलाँचों का पुञ्ज नही रह जाता। मस्तिष्क का क्षेत्र तो विज्ञान है, गणित है। साहित्य, कविता मुख्यतः हृदय की उपजहै। और, वह हृदय क्या जिसमें साधुता, शालीनता, सज्जनता, स्नेहपरता, आर्द्रता नहीं हुई। छल, प्रपंच, षड्यन्त्र, धोखेबाजी—ये सब दिमाग की खुराफातें हैं। यदि साहित्य के क्षेत्र में इनका पदार्पण हुआ, तो बंटाढार हुआ। साधुता से ओतप्रोत हृदय जब अपनी साधना को वाणी प्रदान करता है, उच्च साहित्य का जन्म उस दिन होता है। हृदय की बात हृदय को अपनी ओर खींचती है। कबीर की अटपटी बोली में क्या है—किन्तु पढ़ने की अपेक्षा किसी दिन किसी भक्त के कण्ठ से साधारण खंजड़ी पर उसे सुनिये, तो पाइयेगा, वह किस प्रकार आपको भाव-मुग्ध बना छोड़ती है! सूर के भ्रमर-गीत हृदय की मधुरतम भावना—प्रेम के वाणी-रूप हैं, इसीलिए वे हमें रुलाते हैं, तड़पाते हैं। तुलसी के राम उनके उस साधु-हृदय का प्रतीक हैं, जो निर्मल है, प्रोज्वल है, निष्कम्प दीप की तरह सतत ज्योतित है, सुख-दुःख से परे है—

प्रसन्नतां या न गताभिषेकस्तथा
न मम्ले वनवासदुःखतः।

इसलिए तुलसी के राम हमें प्रिय हैं, उनका 'राम-चरित-मानस'

हमारा प्रिय साथी है। और सूली ऊपर पिया की सेज सजाने वाली हमारी मीरा ! उनके गीतों में वह क्या है, जो हमारे हृदय को रस से शराबोर कर देता है ! हाँ, हमारी यह मान्यता है, साधुता साहित्य की सबसे बड़ी मूल की, नीव की सामग्री है। इसके बिना आप वाणी के किसी टिकाऊ, सुन्दर, भव्य मन्दिर की स्थापना की कल्पना भी नहीं कर सकते।

किन्तु वही साहित्य जब दरबार में पहुंचा ! कोई कालिदास, कोई विद्यापति वहाँ भी अपनी या अपनी वाणी की मर्यादा की रक्षा कुछ अंशों में करने में समर्थ हो सके हों। किन्तु अधिकांश तो यही हुआ कि दरबार की सारी बुराइयाँ उससे लिपट गईं। अपने रीतिकालीन कवियों को देखिये—साहित्य के नाम पर क्या-क्या न कुकर्म किये गये ! व्यभिचार और दुराचार को छिपाने के लिए परकीया की सृष्टि की गई। सहेटों और संकेत स्थलों की विधिवत् रचना हुई। नारी-जाति के अंग-अंग को इस तरह नग्न करके दिखलाया गया कि लज्जा को भी लाज से गड़ जाना पड़े। नख-शिख-वर्णन की वह प्रणाली स्वीकार की गई जिसमें नारी-अंग की एक भी गोपनीयता गोपन नहीं रह जाय। फिर, रति-क्रिया का वह वर्णन !—उफ ! एक दिन वह अवश्य आवेगा, जब इस साहित्य को पढ़ने और पढ़ाने के बदले इसकी होलिका जलाई जायगी। राजाओं की तारीफ में वह कहा गया कि झूठ की प्रपितामही भी मात खा जाय। चापलूसी और झुठाई को नाना प्रकार के "अलकारों" के रूप में बदल दिया गया। सबसे बड़ा कवि वह, जो सबसे बड़ी झूठ का घटाटोप खड़ा कर सके। भाषा की भी गर्दन तराशी गई। भाषा हृदयगत भावनाओं की वाहिनी नहीं रही, वह सरकस की वह बन्दरी बन गई जो नाना तरह के करतब दिखा सके। शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार—क्या-क्या न अलङ्कार इन कवियों ने गढ़े, कोई सुनार भी उतने अलङ्कारों की कल्पना क्या खाकर कर सकता था ?

युग बदला, दरबार उठा। बनिया-राज हुआ। साहित्य भी बाजार का एक माल बन गया। माल बनाने में, माल बेचने में जितने भी छल-प्रपञ्च किये जा सकते हैं, सब साहित्य में भी चालू हो गया है। व्यापा-

रियों की चोर-बाजारी पकड़ने के कानून भी हैं, किन्तु साहित्य की काले-बाजारी कौन पकड़े, कहाँ तक पकडे। जो मर गये, उनकी कृतियाँ सबकी हो गई—वे उन्हें जैसे छापें, जैसे बेचें, जहाँ बेचें। कबीर, तुलसी, सूर, मीरा—सबका श्राद्ध किया जा रहा है। वे लोग भी क्या समझते होंगे कि किन लोगो के पुरखे बनने का उन्हें सौभाग्य मिला है! उनकी कृतियों के जितने संस्करण, उतने पाठ-भेद! फिर टीकाकारों का बुद्धि-चमत्कार देखिये। कभी कोई जीवन भर परिश्रम करके एक ग्रंथ का भाष्यकार या टीकाकार बन सकता था। अब तो एक ही आदमी हर प्राचीन ग्रंथ पर प्रामाणिक टीका प्रस्तुत करने की योग्यता रखता है। चार टीकाये सामने रख ली, नई टीका बना ली। कोषों की भी यही दशा है। "हिन्दी-शब्द-सागर" के लिये आधे दर्जन उच्चकोटि के विद्वानों ने वर्षों लगातार परिश्रम किया। लीजिये, रास्ता खुल गया—अब हर प्रकाशक का अपना "कोष" है, जो उसके रत्नकोष को दिन-रात भरा करता है। कालेजों में हिन्दी की पढ़ाई क्या शुरू हुई, हिन्दी साहित्य और भाषा की दुर्गति का शुभारम्भ हुआ। अब हर [illegible] (!) भाष्यकार है, आलोचक है। वह बड़ों-बड़ों पर फतवा दे सकता है और उसके फतवे को अकाट्य मान कर विद्यार्थियों को उस पर चलना है। नहीं चलोगे, तो परीक्षा-फल के समय देख लेना।

साहित्य के क्षेत्र में जो छल, प्रपंच, षड्यन्त्र चल रहे हैं, उन्हें देखकर कितना क्लेश होता है। पत्र-पत्रिकाओं की संख्या में बेहद वृद्धि हो गई है, क्योंकि पत्र-पत्रिकायें भी व्यापार का एक अच्छा साधन बन गई हैं। बडी-बड़ी राटरी मशीनों का पेट भरना है। उनके लिए इतना साहित्य आवे कहाँ से? बस चोरी, सीनाजोरी, कालाबाजारी—सब कुछ चल रहे हैं। ज्यों ही कोई पुण्य-तिथि या उत्सव-पर्व आया, सब पत्र-पत्रिकाओं के मोटी-मोटी काया वाले विशेषांक निकालेंगे। चिट्ठियों, तारों, तकाजों की भरमार। लेखक और कवि क्या करें? कुछ चतुर लोगों ने एक नया रास्ता निकाला है—एक ही कविता, लेख या कहानी कई जगहों में भेजते हैं। जब वे छपते हैं, तब सम्पादकों को पता चलता है, उन्हें कैसा धोखा हुआ है। दो-चार साल पहले प्रकाशित पुराने लेखों,

कहानियों या कविताओं को जरा-सा उलट-पुलट कर भेजने में भी संकोच नहीं किया जाता। पत्र-पत्रिकाओं की एक नई बीमारी है, सम्पादक-मण्डल की। बस पाँच-सात बड़े लोगों को फाँसा, उनके नाम मण्डल में दे दिये और फिर उन नामों को भँजाने लगे। हमारे वे श्रद्धेय विद्वान् समझते हैं, उनका सन्मान हो रहा है ! किन्तु वे कितनी बड़ी चोरबाजारी के हिस्सेदार बन रहे हैं, काश, वे सोच पाते। जहाँ तक हमें ज्ञात है, उन्हें इसके बदले कुछ मिलता भी नही है—खूनेनाहक के ये जीते-जागते उदारण हैं।

साहित्यिक संस्थाओं में घुसने से कुछ नाम हो जाता है, फिर उस नाम को भँजाया जा सकता है, उससे कमाया जा सकता है, इसीलिए साहित्यिक संस्थाओं में घुसने और उनपर कब्जा करने की प्रवृत्ति ने इतना जोर मारा है कि हमारी बड़ी-से-बड़ी और अच्छी-से-अच्छी संस्थाएँ भी अपने भाग्य को रो रही हैं।

हम अपने साहित्यिक बन्धुओं से निवेदन करना चाहते हैं—मित्रो, यह क्या हो रहा है ? हम कहाँ जा रहे हैं ? हमारा यह सौभाग्य है कि साधुता की वह परम्परा मिटी नही है, हम में अब भी ऐसे साधु-साधक हैं, जिनकी चरण धूलि को सादर मस्तक पर चढ़ाया जा सकता है, किन्तु, एक तो वे मुँह नही खोलते और अगर कभी बोलते हैं, तो उनकी सुनता कौन है ? कोयल चुप हो गई है, कौवे काँव-काँव से खोपड़ी खाये जा रहे हैं। क्या इन कौवों को इसी तरह कर्राने दिया जायगा ?

हर पेशे के लिए चरित का एक मापदण्ड "कोड आफ कण्डक्ट" होता है, हमी एक हैं, जिन्हें सर्वतन्त्र स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई है।

हम एक-दूसरे की पगड़ी उछालें, हम सुफेद को स्याह बतावें और स्याह को सुफेद, हम दूसरों की कीर्ति पर स्याही पोतें, हम दूसरों की कीर्त्ति तक को हड़प लें। हम ईर्षा से जलें, हम एक-दूसरे के विरुद्ध षड्यन्त्र रचें, हम भारती की पीठों को अपवित्र और अपावन करें, हम एक-दूसरे की गर्दन नापने से नहीं चूकें !

नहीं मित्रो, नहीं। यह हमारा काम नहीं है। यह हमारी परम्परा नहीं है। यह हमारे पुरखों की विरासत नही हैं। कबीर और तुलसी के

वंशजों के लिए यह शोभनीय नहीं है। संसार की कामनायें हैं, तो उनकी पूर्ति के लिए स्थानों की कमी नहीं। कोई दूसरा पेशा कीजिये, किसी दूसरे मन्दिर में जाइये—गाँधी के इस देश में भी भट्टियों, शराबखानों की अभी कमी नहीं! वहीं जाइये, ढालिये, बकिये—जो बक सकें, सब माफ। साहित्य को, भारती के मन्दिर को अपनी बेहूदी बातों से, बेहूदी हरकतों से अपावन, अपवित्र मत कीजिये। मत सोचिये आपकी नकेल थामने वाला कोई नहीं, काल स्वयं एक ऐसा बलवान शास्ता है, जो बहुतों को मिटा चुका है, धुस्स में मिला चुका है। उसके सामने हम आप तो तुच्छ तिनके हैं! जब तक उसकी फूँक नहीं पड़ती, हमें सम्हल जाना है। साधुता और साहित्यिकता सहचरी हैं। कण्ठीमाला पहन कर मार्जारी कब तक धोखे देती रहेगी? व्याघ्र का वंश समाप्त नहीं हो गया है!

६

दो ताज !

गुप्त काल के बाद मुगल जमाना भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग है। उम मुगल जमाने में दो ताज रचे गये—एक पत्थरों का, दूसरा अक्षरो का।

पत्थरों के ताज का रचयिता एक भू-स्वामी था और अक्षरों के ताज का रचयिता एक गो-स्वामी। दोनों की प्रेरणा में स्त्री थी—एक में स्त्री से आसक्ति, दूसरे में विरक्ति। (फ्रायड बताता है, आसक्ति और विरक्ति एक ही सिक्के के दो रूप हैं)। भू-स्वामी (शाहजहाँ) ने अपने अनुचरों से कहा—फैल जाओ मेरे द्वारा शासित इस विस्तृत भूखंड में और दूसरे राज्यों में भी, और जहाँ से, जिस कीमत पर भी, जो सुन्दर सुडौल पत्थर मिले, उन्हें चुन लाओ। गो-स्वामी (इन्द्रियों के प्रभु) के पास अपनी ज्ञानेन्द्रियों के सिवा दूसरे अनुचर कहाँ ? उसने साधना द्वारा उन्हें प्रेरित किया कि जहाँ कही भी सत्यं, शिवं, सुन्दरम् प्राप्त हो, उन्हें संगृहीत करो।

एक तरफ पृथ्वी का कोना-कोना ढूँढ डाला गया; दूसरी तरफ "नाना पुराण निगमागम" के अतिरिक्त "क्वचिदन्यत:" भी ले लिया गया। पत्थरों के ताज का निर्माण यमुना किनारे शुरू हुआ और अक्षरों के ताज का श्रीगणेश सरजू किनारे।

समय पाकर दोनों ताज तैयार हुए—यमुना किनारे "महल" बना; सरजू किनारे "मानस"। ये दोनों "ताज-महल" और "राम-चरित्र-मानस"—भारत की वैसी कला कृतियाँ हैं, जिनके समक्ष काल और पुरुष दोनों को ही, सर-नंगूँ होने को बाध्य होना पड़ा, होना पड़ेगा।

मानता हूँ, पत्थरों के ताज की कद्र तुरत हुई, उसका लोहा तुरत

मान लिया गया और आज संसार के कोने-कोने से लोग उसे देखने को आते हैं और "न भूतो न भविष्यसि" कह कर उसके सामने सर झुकाते और चलते बनते हैं। लेकिन इसका कारण कला की उच्चता या हीनता नहीं है, बल्कि इसका भेद छिपा है--पत्थरों और अक्षरों में।

पत्थर की खूबसूरती साधारण आँखों से भी देखी जा सकती है। मूर्त सौन्दर्य पर अज्ञान के चर्मचक्षु भी अपलक हो जाते हैं। किन्तु अक्षर के अन्दर जो खूबसूरती है--उसके देखने के लिए तो "हिये की आँखें" ही चाहिये। काली-काली टेढ़ी-मेढ़ी लकीरों के अन्दर जो शतशः इन्द्रधनुष छिपे हैं, उन्हें देखने-परखने के लिए तो कुछ योग्यता की आवश्यकता है! "महल" सब देख सकते है, देखते हैं; "मानस" का अवगाहन कितनों ने किया, कहाँ तक किया।

पर, हमें यह भी याद रखना है, पत्थर नश्वर है--वह धूप, वर्षा—समय के प्रहार--का शिकार है। किन्तु, अक्षर (अ-क्षर), अजर है, अमर है; बल्कि ज्यों-ज्यों समय बीतता है, उसका रंग और भी उभड़ता, निखरता जाता है। तीन सौ वर्ष में ही "महल" के कितने रंग उड़ गये; हो सकता है, जमाने का एक ही जबरदस्त थपेड़ा उसके धुर्रे उड़ा डाले! किन्तु, ज्यों-ज्यों वर्ष बीतते जाते है, शताब्दियाँ बीतती जाती हैं, "मानस" की गहराई बढती जाती है, अवगाहनार्थियों की भीड भी बढ़ती जाती है! भारत के कोने-कोने से ही नही, लंदन और बर्लिन से ही नहीं, मास्को और लेनिनग्राद से भी उसकी प्रशस्ति के पूत मंत्र सुनाई पड़ने लगे हैं! वह दिन दूर नही, जब संसार की श्रेष्ठतम कलाकृतियों में वह आदर का स्थान पायगा!

हमारी कामना है, भारत के ये दोनों ताज अमर हों। पत्थरों के ताज और अक्षरों के ताज; यमुना किनारे पर बना "ताजमहल", सरजू किनारे पर प्रारम्भ किया गया "रामचरित मानस"! और जय हो इन दोनों के रचयिताओं की—शाहजहाँ की, गोस्वामी तुलसीदास की; क्योंकि ये दो भारत के सर्वश्रेष्ठ कलाकारों में हैं, और वे दो भारत की सर्वश्रेष्ठ कलाकृतियों में!

७

नव-निर्माण और साहित्य-स्रष्टा

सदियों के बाद हमारा देश एक नये रूप मे एक नये युग में प्रवेश कर रहा है। संघर्षो का एक लम्बा अध्याय समाप्त हुआ और उसका स्थान अब नव-निर्माण ले रहा है। इस नव-निर्माण में हमारा क्या स्थान हो, हमें यह सोचना है।

निस्सन्देह नवनिर्माण की तरह-तरह की योजनाएँ सामने आ रही हैं। किन्तु क्या तब तक हम नवनिर्माण का कोई ठोस काम सम्पन्न कर सकते हैं, जब तक उसकी नीव में कोई सपना नही हो ? हमारी हर योजना जो दो-चार कदम चलकर भहरा पड़ती है, ठप्प हो जाती है, उसका कारण क्या है—क्या हमारे राष्ट्र के कर्णधार इस पर विचार करते है ? नई योजना को कार्यान्वित करने के लिए जो उमंग, जो उत्साह, जो जोश, जो जॉनिसारी चाहिये, यदि वह नही है, तो पैसे क्या करेंगे ? सिर्फ पैसा तो भ्रष्टाचार बढाता है। आज उसी का बोलबाला इसीलिए है कि हम मानव के अन्तर्मन को छूने में असमर्थ रहे हैं। लोहे और सीमेंट के नीचे भावना चाहिये, सपना चाहिये—तभी निर्माण हो सकता है। यह सपना और भावना कौन देगा ? साहित्य। हॉ, साहित्य, संगीत और कला की त्रिवेणी ही हमारे मन के मलों को धोकर हमें नये अनुष्ठानों के लिए, नये यज्ञों के लिए, तैयार कर सकती है।

खेद और दुख की बात है कि जिन्दगी-भर युद्धक्षेत्र की नीरसता और कठोरता में पलने वाले हमारे नेताओं के रूखे-सूखे दिमाग में यह बात अँट नहीं पाती। देश-विदेश के हर तरह के लोगों को बुला-बुला कर वे सम्मेलन-पर-सम्मेलन करते जा रहे हैं, किन्तु साहित्य-स्रष्टाओं की पूछ उनके यहाँ नही। कभी हुई भी, तो सिर्फ दो घड़ी के लिए।

इसके लिए वे ही दोषी नही, हम भी दोषी हैं—क्योंकि हमने भी अपना स्तर नीचे गिरा दिया है। जो अपनी मर्यादा स्वयं नही जानता, उनकी मर्यादा दूसरे के सामने क्या होगी ? अटपटी सूरत, लटपटी पोशाक, उल्टी-सुल्टी-बाते—मध्ययुग के दरबारों ने शराब पिला-पिला कर हमें जो बर्बाद किया—उसकी झलक आज तक हमारे जीवन पर है ! किन्तु मध्ययुग कब का लद गया। यह नया युग है, इसमें हमारा नया उत्तरदायित्व है—हमें यह समझना है। जो हमें नही पूछते, उनके आगे-पीछे मॅडराने की जिल्लत हम क्यों उठायें—बात ठीक है, यही हमारे गौरव के अनुरूप हैं। किन्तु, स्वतंत्र रूप से हमें अपने कर्तव्य का पालन तो करते ही जाना है। यही हमारी परम्परा भी रही है। हमारे हरिश्चन्द्र से लेकर देश के आजाद होने तक हममें से एक बड़े समूह ने देश-माता को स्वतत्र करने के लिए देशवासियो के हृदयो में जो एक सपना पैदा किया, उमंग और उत्साह भरे, त्याग और बलिदान की प्रेरणा उत्पन्न की, सो क्या किसी के कहने पर ? किसी की अनुनय या अनुज्ञा पर ? और यह प्रश्न भी तो है ही कि क्या अनुनय या अनुज्ञा पर सपनों को सृष्टि की भी जा सकती है ?

सरकार हमें नही पूछती, इस बात पर एक ओर खीझ होती हो, तो दूसरी ओर प्रसन्नता भी होनी चाहिये। क्योंकि देश-विदेश के जो तजर्बे हमारे सामने हैं, उनसे यह स्पष्ट हो गया है कि भाषा और साहित्य पर सरकार की छाया जितनी कम पड़े, उतना ही अच्छा। साहित्य-निर्माण के बारे में हमारे सामने रूस का उदाहरण है। रूस ने अपनी पसंद के साहित्य के प्रचार के लिए जितना किया है, वह किसी भी सरकार के लिए ईर्ष्या की बात हो सकती है। गोर्की-पुश्किन, लेनिन-स्तालिन की रचनाओं को जिम सस्ती कीमत पर, जितनी सुन्दरता और सफाई से, जितनी बड़ी तायदाद में, संसार की भिन्न-भिन्न भाषाओं में उसने प्रकाशित और प्रचारित किया है, उसे देखकर आश्चर्य होता है। किन्तु, जहाँ उसने नये साहित्य-निर्माण का कार्य कराया है, वहाँ तो निराशा ही निराशा दिखाई पड़ती है। वहाँ के साहित्यकार वहाँ की सरकार के चारण-मात्र बन गये हैं। सरकार की आलोचना करके तो उन्हें

फाँसी पर ही लटकने को तैयार हो जाना पड़ता है। सरकार के समर्थन में भी उन्हें एक खास तरीके को ही बरतना पड़ता है। जहाँ वे मानव-भावनाओं का चित्रण करते हैं, वहाँ भी वे अपने चारों ओर लक्ष्मण-रेखा खिंची पाते हैं। वहाँ साहित्य साहित्य नहीं रह गया है, टकसाल में ढले-ढलाए सिक्के मात्र – जिनकी खास धात, खास वज़न, खास कीमत और हर सिक्के पर कीमत की छाप के साथ राज्य के सर्वेसर्वा के चेहरे की छाप भी।

साहित्य के बारे में हमने जो रूस में देखा, भाषा के बारे में वही हालत अपने देश में देख रहे हैं। कभी हिन्दुस्तानी के नाम से एक भाषा गढी जा रही थी अब राज्य-भाषा के नाम पर दूसरी भाषा गढ़ी जा रही है। बड़ी दिलचस्प कहानी है— लाहौर का एक भाषाचार्य घर-द्वार गँवाकर दिल्ली आया। दिल्ली में दाल न गली, तो वह नागपुर पहुँचा। नागपुर के पंडितो के सामने उसने अपनी टकसाल की करामात रखी–देखिये, यह छूमन्तर। एक-एक साँचा और शब्दों के सौ-सौ सिक्के ले लीजिए। ऐसे साँचे संसार की किसी भी भाषा में हैं ? क्या खाकर पायेंगे वे इन्हें। यह तो हमारी ऋषियों की भूमि है, जिसकी मिट्टी में यह सिफत है। क्या कहते हो, समझते नही हो ? जब सात समुन्दर पार की भाषा समझ गये, तो इन्हें नही समझ सकते। छी-छी, क्या कह गये। अजी, सोचो और सीखो। नही सीखोगे—तो इस भरत-भूमि में रहने का क्या अधिकार ? नागपुर की टकसाल में ढली यह भाषा अब दिल्ली की छाप लेकर आज देश भर में छा रही है। इसमें सबसे बड़ी मौत हो रही है हिन्दीवालों की। जो अन्य भाषा-भाषी हैं, उन्हे तो सीखना था ही, "क" नही सीखा "ख" ही सीख लिया। लेकिन जिन्होंने "क" सीख रखा था, उन्हें कहा जाता है, उस "क" को भूल जाओ और इस "ख" को ही "क" मानकर आगे बढ़ो। ज्ञान भी कभी बवाल-जान बन जाता है, उसका ज्वलन्त प्रमाण आज हिन्दी-संसार में देखा जा रहा है।

हमें और सरकार को भी समझ लेना है कि भाषा या साहित्य का निर्माण सेक्रेटेरियट में नहीं किया जा सकता। भाषा गढ़ी जाती है

जनता की जिह्वा पर, हाँ, जनता की खुरदरी, मोटी जिह्वा पर ! कुछ ऊँचे वैज्ञानिक शब्दों को छोड़ दीजिए, तो हजारों-लाखों शब्द हमारे देहातों में भरे पड़े हैं—हमारे किसान, बुनकर, लोहार, बढ़ई, मल्लाह, आदि टेकनिकल शब्दों का इतना बड़ा भंडार अपने पास रखे हुए हैं कि उन्हें उनसे लेकर हम अपनी भाषा को बहुत कुछ सम्पन्न बना सकते हैं। कारखानों के मजदूरों में, जहाजों के खलासियों में, होटलों के बेहरों में, ऑफिसों के चपरासियों में ऐसे हजारों शब्द प्रचलित हैं, जो बहुत अंशों में हमारे बड़े काम के सिद्ध हो सकते हैं। किन्तु, हम उनकी ओर ध्यान न देकर अंग्रेजी और संस्कृत के कोषों के भ्रमजाल में पड़े हैं। ऐसा क्यों होता है ? बात स्पष्ट है कि क्रान्ति तो जनता करती है, किन्तु जनता के प्रतिनिधि के नाम पर जो लोग शासनारूढ़ होते हैं, वे जनता के प्रतिनिधि भले ही हों, जनता के लोग नहीं होते, सत्ता प्राप्त होते ही उनका अभिजात्य अहंकार उद्दीप्त हो जाता है और वे अपना रहन-सहन, भूषा-भाषा जनता पर लादना शुरू कर देते है। "गँवार" लोगों का अनुकरण या अनुसरण भला वे करें ? यही भावना मास्को में जादू फेर गई, यही भावना दिल्ली में करामात कर रही है। जहाँ मुनासिब यह होता कि कार्यकर्त्ताओं का एक झुण्ड जनता के भीतर घुसकर उनमें प्रचलित शब्दों का संग्रह करता, फिर भाषाविदों की मण्डली उनमें से काट-छाँटकर राष्ट्रभाषा के लिए शब्दों का संचयन कर लेती, वहाँ हो यह रहा है कि विशेषज्ञों के नाम पर ग्रंथ-ज्ञानियों के एक बड़े झुण्ड को सेक्रेटेरियट की ठंडी टेबुल के चारों ओर बिठाकर कोष तैयार कराया जा रहा है।

शब्दों का एक और संचित भंडार भी है, हमारा देश बहुत बड़ा है, हर प्रदेश की एक-न-एक विशेषता है। इस विशेषता के कारण हर प्रदेश में कुछ विशेष शब्द बन गये हैं, जो उस प्रदेश की पैदावार और पेशे की विशेषता को पूर्ण रूप से प्रकट करते हैं। उनके वे शब्द उनके शब्दकोषों में भी आ गये हैं। क्यों न उन शब्दों को हम उन कोषों से सीधे ले लें। मराठी-गुजराती, तामिल-तेलगू, बंगाली-पंजाबी आदि में ऐसे हजारों शब्द हैं, जिन्हें हम बड़ी आसानी से ले सकते हैं। और, जो विदेशी शब्द हम में प्रचलित हो चुके हैं, जिन्हें हमने पचा लिया है—

जो हमारी जनता की जबान पर चढ़ चुके हैं—उनके लिए नया शब्द ढूँढने और बनाने की चेष्टा तो मुझे पागलपन ही मालूम होता है। लेकिन, हमारे देश में पागलपन भी प्राय: सिद्धपन के नाम से पूजा गया है न? हमारा पागलपन किस उच्चकोटि का है, इसका सम्पूर्ण परिचय तब मिले, जबकि पुरानी हिन्दोस्तानी और इस नई राज्यभाषा हिन्दी के कोष एक साथ प्रकाशित कर दिये जायँ—वे ही लोग, उन्ही की सरकार, किन्तु थोड़े दिनों के व्यवधान में ही कितनी बड़ी बन्दरकूद दिखलाई है भाषा के हमारे मदारियों ने।

यों ही साहित्य के निर्माण का कार्य भी सरकारी छत्रछाया से जितनी दूर हो, साहित्य के लिए, मानव-कल्याण के लिए उतना ही अच्छा। हमारे वाल्मीकि और व्यास किसी राजा की छत्रछाया में नहीं थे और नही थे हमारे तुलसी और सूर। कभी किसी दरबार ने एक कालिदास दिया या एक विद्यापति, तो मै इन्हें अपवाद मानता हूँ, जो नियम को ही सिद्ध करते हैं। दरबारों में पहुँचकर साहित्य किस कदर भड़ैती बन जाता है, इसका प्रमाण है हमारा रीति-काल। दरबार सिर्फ खिलाता ही नही है, पिलाता भी है। और पीकर कितनों का दिमाग ठिकाने रह सका—चाहे वह पेय शराब हो, या अहंकार। और उसका खिलाना-पिलाना क्या यों ही होता है—निरुद्देश्य होता है। नहीं, जितना खिलाता-पिलाता है, उससे अधिक वह गँवाता है, नचाता है। मध्ययुग में भी यह बात थी, आज भी यही बात है। किन्तु नतीजा? बस, वही रीति-काल का नया संस्करण। नायिका बदल गई है, बात वही है। थोड़े ही दिनों में अपने देश में भी हमने देख लिया है कि सरकारी छत्रछाया का क्या अर्थ होता है? सूचना, प्रसार, प्रचार, जन-सम्पर्क, अनुवाद—चाहे जिस नाम से, जहाँ पर भी, ऐसे सरकारी विभाग हैं, उनमें रहने वाले साहित्यिकों को देखिये। जरूर उनके चेहरे पर ज्यादा खून और उनके शरीर पर ज्यादा गोश्त आप पायेंगे, किन्तु जब उनके निकट जाइये, लगता है, ठंडी अँगीठी के पास हम पहुँच गये हैं। लगता है, जैसे भावनाएँ मर चुकी हैं, उनकी चितायें धुँधुआ रही हैं। वे वह नहीं कह पाते, जो उन्हें कहना है या जिसे कहने के लिए

प्रकृति ने उन्हें सँवारा था। उन्हें वह कहना पड़ रहा है, जो उन्हें कहना नहीं चाहिए। गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा था—"किन्हें प्राकृत जन-गुन-गाना, सिरधुनि गिरा लागि पछिताना।" यहाँ स्पष्ट ही प्राकृत जन से उनका तात्पर्य था उस समय के बड़े लोगों से—अमीर-उमराओं से, राजा-महाराजाओं से—जिनकी स्तुति-गाथा में उस समय के साहित्यिक फँसे हुए थे। तुलसीदास जी के इस सूत्र में साहित्यिकों के लिए एक शाश्वत पथ-प्रदर्शन छिपा है। किन्तु, नये युग में इसकी नई व्याख्या होनी चाहिए। प्राकृत-जन से भागकर बाबा ने आस्मान की ओर सर कर लिया—हमें गर्दन को गद्दियों से हटाकर जमीन की ओर मोड़ना है।

साहित्य को अगर बहुरंगी बनना है, सतरंगी बनना है, तो उसे रंगों के लिए जन-जीवन में प्रवेश करना है। अजंता की अपूर्व चित्रकारी के लिए उसके कलाकारों ने उसी के आस-पास की मिट्टी से, पत्थर से, पेड़ों की जड़ से, छाल से, पौदों की पत्तियों से, फूलों से रंग संचित किये। हमारे साहित्य के लिए जो रंग चाहिएँ, वे हमारी चारों ओर, जन-जीवन में प्रचुरता से ओतप्रोत हैं—आँखें चाहिएँ, जो उन्हें देखें, पैर चाहिएँ, जो उन तक पहुंचें, हाथ चाहिएँ, जो उनके प्रयोग करें। आज का जो अपना साहित्य है, वह उतना रंगीन क्यों नही है? क्योंकि, हमारे कलाकार हाथ-पैर नही हिलाते। एक खास वृत्त के अंदर अपने को बंद किये कुछ विचारों, कुछ भावनाओं, कुछ चित्रों का चर्वित चर्वन करते हैं। जब मै जेल में था, मैंने आधुनिक काल के अपने कुछ कलाकारों की कृतियों का इस दृष्टि से अध्ययन करना आरम्भ किया। लेकिन, मैंने उस काल को थोड़े ही दिनों के बाद इसलिए छोड़ दिया कि उस अध्ययन से जो निष्कर्ष निकलने लगे, मै उनसे काँप उठा। कभी-कभी आदमी अपना ही चेहरा आईने में देखकर काँप उठता है न?

चाहे भाषा का निर्माण हो या साहित्य का, स्वतंत्र लेखक ही उसे सुचारु रूप से सम्पन्न कर सकते हैं। उन्हीं की कृतियाँ ही वे सपने दे सकेंगी, जिनके आधार पर हमारे समाज का नवनिर्माण सही ढंग से हो सकता है। स्वतंत्र लेखक से मेरा अर्थ है—वह लेखक, जो किसी बाहरी प्रभाव में न हो और जो लेखन की वृत्ति से ही अपना जीवन

यापन करता हो। इस दृष्टि से देखिये, तो मालूम पड़ेगा हमारे यहाँ स्वतंत्र लेखकों का कितना अभाव है। हमारे अधिकाश लेखक या तो अपने बाप-दादों की कमाई पर जी रहे हैं या पढ़ने-लिखने की किसी निश्चित जीविका में फँसे हैं—कोई प्रोफेसर है, कोई पत्रकार हैं, कोई वैतनिक मंत्री हैं, कोई वैतनिक प्रचारक हैं। किसी किसी ने प्रकाशन का पेशा भी अख्तियार कर लिया है। यह हमें मान लेना चाहिए कि राष्ट्रभाषा हो जाने के बाद हिन्दी पर जो उत्तरदायित्व आया है, उसका निर्वाह अवकाश में काम करने वाले इन लेखकों से नही हो सकता है। स्वतंत्र लेखकों का एक बड़ा समुदाय ही इस उत्तरदायित्व को सम्पन्न कर सकता है। किन्तु स्वतंत्र लेखकों का ऐसा समुदाय बने कैसे, बढ़े कैसे ? इसके लिए सबसे पहला कर्तव्य तो है जनता का।

जनता हमारे कलाकारों का सम्मान तो खूब करती है, किन्तु उनके जीवन की ओर झाँकने का कष्ट नहीं उठाती। साल में एकाध उत्सव किया, लेखकों और कवियों को बुलाया, उनके गले में फूलों की मालायें डाली, खूब खिलाया-पिलाया, चलते समय टिकट भी कटा दी और बड़ी कृपा की, तो दस-दस के एक-दो नोट थमा दिये। नोटों के इस प्रयोग से यह भी हुआ है कि अब सौदा पहले ही पटा लिया जाता है। किन्तु, इन सबके बावजूद उनका वह प्यारा कलाकार किस तरह जीवन बिता रहा है या ढो रहा है, इसकी ओर लोग ध्यान नहीं देते। तो, क्या मै यह चाहता हूँ कि कुछ चंदे उठाये जायँ और लेखकों की भेंट की जाय। नही, इसे तो मै कलाकार का अपमान ही मानूँगा। कलाकार कुछ नही चाहता—यदि उसकी कृतियों का व्यापक प्रचार हो, इससे उसकी समस्या हल हो जा सकती है। पाँच-छः पुस्तकों का लेखक भी बड़े मजे में जीवन बिता सकता है, यदि साल में उसकी हर पुस्तक की दो-तीन हजार प्रतियाँ भी खप जाया करें। अतः जनता का पुस्तकों के खरीदने का अभ्यास डालना स्वतंत्र लेखक के अस्तित्व की पहली शर्त है। इस अभ्यास का प्रायः अभाव है—नही पढ़ो, तो सबसे अच्छा, पढ़ो, तो उधार लेकर पढ़ो और हो सके तो उधार को लौटाओ मत। इस प्रवृत्ति ने हिन्दी के विकास को रोक-रखा है।

लेकिन, मान लीजिये कि सभी लोग कुछ-न-कुछ किताबें खरीदना अपना कर्तव्य समझ लें, तब क्या यह ममला हल हो जायगा ? पाठक जो पुस्तकें खरीदेंगे, उनका एक उचित हिस्सा लेखकों के पास अवश्य पहुँच जाय, जब तक यह व्यवस्था नहीं होगी, तब तक समस्या सुलझ नही सकती। यहीं सरकार का काम आता है। यदि सरकार इसमें लेखकों की सहायता करे, तो समस्या सुलझ सकती है। आज "कापी-राइट" का कानून है, उसमें बेचारा लेखक एक बड़ा ही दयनीय और निरीह प्राणी है। जमीन पर काम करने वालों, कारखानों में काम करने वालों, दफ़्तरों में काम करने वालों, सबके हित में सरकार ने कुछ-न-कुछ उपयोगी कानून बना दिये हैं जिनसे उन्हें कुछ सुविधायें अवश्य प्राप्त हुई है। किन्तु लेखकों की स्वत्व-रक्षा की ओर एक-एक कदम भी नही उठाया गया है। हम सरकार से कहेंगे—भगवन्, कृपाकर हमारी ओर एक-आध टुकड़ा फेंकने के बदले यदि आप हमारे टुकड़ों के छीने जाने से हमारी रक्षा कर दें, तो हम आपके चिरकृतज्ञ रहेंगे। कहा जाता है, कापीराइट की कानून तो अन्तर्राष्ट्रीय विषय है, इसमें भारत सरकार या प्रादेशिक सरकार क्या कर सकती है ? यह थोथी दलील है। सरकार यदि लेखकों की रक्षा करना चाहती है, तो वह ऐसे कानून बना सकती है, जिससे उनकी कमाई के पैसे उनको आसानी से मिलते रहें। अच्छी कृतियो को पाठ्य-ग्रंथों के लिए स्वीकृत कर, उनकी प्रतियाँ वितरणार्थ खरीदकर या उन पर पुरस्कार देकर भी सरकार ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर सकती है कि लेखक स्वतंत्र रूप से साहित्य-सृजन कर सकें। किन्तु इधर कुछ दिनों से, इस दिशा में जो अनाचार और भ्रष्टाचार फैल रहा है और इसके चलते लेखकों में जो तू-तू-मैं-मैं मची हुई है, उसे देखते हुए वही पुरानी कहावत दुहराने की इच्छा होती है—"बखसो बिलार, मुर्गा बाँड़ होके रहिहैं"। किन्तु, मेरा विश्वास है यदि सरकार सदिच्छा और जागरूकता से काम करे, तो इस पद्धति से भी साहित्य को प्रोत्साहन अवश्य मिल सकता है।

यहाँ प्रश्न आदर्श का आ जाता है। निस्सन्देह, यह कलियुग है, सोने का युग है। सोना देखकर यदि हमारा मन चंचल हो जाय, तो यह

स्वाभाविक ही है—उसकी प्राप्ति के लिए कभी-कभी हम अपने स्तर से नीचे उतर जायँ, तो वह मानव कमजोरियों की विजय है, जिनसे हम परे नहीं हैं। किन्तु, मानव मानव इसलिए है कि वह कमजोरियों से ऊपर उठ सकता है, वह युग की धारा को बदल दे सकता है, उलट दे सकता है। जिन ऋषियों ने "कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भू" का नारा दिया, उन्होने हम सरस्वती के सपूतों का ध्यान एक ऐसे ही आदर्श की ओर आकृष्ट किया।

आज वह समय आ गया है कि हम सोचें कि हमें किसका वाहन बनना है—सरस्वती का या लक्ष्मी का ? सरस्वती के वाहन को अपने डैनों पर विश्वास होना चाहिए, अपने "नीर-क्षीर-विवेक" रखने वाले चंचुओं पर विश्वास रखना चाहिए। हमें गर्व होना चाहिए अपने उन श्वेत पंखों पर—जिन पर एक धब्बा न हो, एक दाग न हो ! अरे, हम बादलों के ऊपर उड़ान भरने वाले हैं, मानस का रस पीने वाले है ! गन्दी गलियाँ हमारी जगह नही, नाले और पनाले में हमारा पेय नही ! हम वह पंछी नही, जिसका खडहरों में ही बसेरा है, जिसकी चोंच टेढी है, जिसके डैने उसे इस मुँडेरे से उस ठूँठ तक ही ले जा सकते है, जिनके पंखो पर धब्बे-ही-धब्बे हैं और जिसे रात में ही सूझता है। हाय, हम हंसों को यह हसद क्यों हो कि हम उल्लू न हुए ? विधाता ने हमें यह रूप, यह रंग कुछ समझ-बूझकर ही दिया है। हमने अपनी सहज प्रवृत्ति से ही उस देवी को चुना, जिससे सोने की देवी सौतियाडाह रखती है। फिर हम अपनी झोली जहाँ-तहाँ क्यों पसारते चलें ? याद रखिये, हमारी झोली कोई भर नही सकता। अरे, हम तो भरी झोली को फूँक-कर ताप जाने वाले है। हरिश्चन्द्र एक नाम ही नही है, एक प्रतीक है—वह प्रतीक, जिसने ललकारकर कहा था—"ऐरे मूढ़ नृप तुम धन दिखलावे काहि, आसी न तुम्हारी ये निवासी कल्प-तरु के।" हाँ, हम कल्प-तरु की छाँह में क्रीड़ा-कौतुक करने वाले अमर लोक के प्राणी हैं। अमरता हमारी बपौती है—हम उस पीढ़ी से हैं, जिसने अक्षर को अपनाकर इस क्षर-क्षयमान संसार पर अपनी एक अमिट लकीर खींच

रखी है। फिर कैसी यह क्लीवता—क्यों आँखों में ये आँसू, क्यों शरीर में यह कँप-कँपी ! अरे, नेतत्वय्युपदयते। यह तुम्हारे योग्य नहीं ! उठो नये परंतपो, अपने शस्त्रों को सम्हालो। नया महाभारत नई गीता खोज रहा है। नव-निर्माण नया सपना माँग रहा है—उसे दो, दो।

८

हिन्दी का आधुनिक साहित्य

हिन्दी को भारत की राज्य-भाषा होने का, नही, स्वीकार कर लिये जाने का सौभाग्य प्राप्त हो चुका है। इस स्वीकृति के लिये भी उसे कीमत चुकानी पड़ रही है। कुछ लोग तो इस प्रयत्न में लगे हैं कि उसकी जड़ जल्द-से-जल्द खोद दी जाय, कुछ लोग उसका रूप इस तरह से बिगाड़ रहे हैं कि वह पहचानी भी नही जा सके। कुछ लोगों को उसका यह नाम भी सह्य नही है, वह हिन्दी के रूप में ही परिवर्तन नहीं चाहते, उसका नाम भी बदल देना चाहते है। ऐसे लोगों में पराये लोग ही नही हैं, कुछ अपने लोग भी हैं, सबसे बड़े दुर्भाग्य की बात यह ह।

पराये लोगों के प्रयत्न इन दिशाओं में चल रहे हैं---वे कहते हैं हिन्दी बड़ी जटिल भाषा है, वह जनभाषा भले ही हो, उसमें प्रमाणिकता का ऐसा अभाव है कि उसे राज्य-भाषा बनाया जाना सम्भव नही, और अपने तर्क को बढ़ाते-बढ़ाते वे इस छोर पर ले आते हैं कि हिन्दी में है क्या ? इसका प्राचीन साहित्य भले ही उन्नत हो; किन्तु, इसका वर्तमान साहित्य—छूँछा, छूँछा ! न इसमें कोई रवीन्द्र हुआ, न इक़बाल। शरत्चन्द्र और मुशी भी इसमें कहाँ ? न कोई वैद्य या चाटुर्या इसमें हुआ। एक प्रेमचन्द—इन्हें कहाँ-कहाँ लिये फिरोगे ? और, एक चना कहीं भाड़ फोड़ता है ! वे बड़े जोर से समाप्त करते हैं,—हिन्दी का वर्तमान साहित्य ही कहता है, यह भाषा राष्ट्र-भाषा का पद पाने के योग्य नहीं।

सबसे बड़ी विचित्र बात यह है कि जब ऐसे तर्क पेश किये जाते हैं, हम भी पराजय बोध करने लगते हैं। हमें लगता है, सचमुच हमारा वर्तमान साहित्य बिलकुल नगण्य है। यह तो तुलसी-कबीर की तपस्या रही या गांधीजी की महिमा कि हमारी भाषा राज्य-भाषा का पद

अनायास और अचानक ही प्राप्त कर सकी ! हम हीन-भावना से ग्रसित हो जाते हैं, हम बड़ी दीनता से उनके तर्क की इस कड़ी को स्वीकार कर लेते हैं और उनकी उदारता के गीत गाने लगते हैं—महाराज, यह आप लोगों की कृपा है, महानता है कि हमारी तुच्छ भाषा को आप लोगों ने यह उच्च पद दे दिया है। आप लोगों को धन्यवाद, शतशः धन्यवाद !

घमंड, अभिमान सदा बुरा है। रूप, धन, गुण, यश, किसी का घमंड अच्छा नहीं। कहा जाता है, अभिमान भगवान का भोजन है—"गर्वप्रहारी राम", यह हम सब मानते हैं। जिसे जितना भी ऐश्वर्य प्राप्त हो, उसे उतना ही विनम्र होना चाहिए—फल से लदी डाली की तरह उसे झुक जाना चाहिए ! किन्तु, क्या विनम्रता का अर्थ हीन-भावना है ? क्या डाल को इतना झुकना चाहिए कि जो चाहे उसके फल का संहार करदे ? हर चीज की सीमा है, विनम्रता की भी सीमा होनी चाहिए। और, विनम्रता का अर्थ यह कदापि नहीं कि हम उन दोषों को भी स्वीकार करते जायें, जो हमें लोगों की आँखों में नीच सिद्ध कर दे !

हम मानते हैं, हिन्दी के आधुनिक साहित्य में रवीन्द्र या इकबाल नहीं है। लेकिन, देखना यह है कि बंगला या उर्दू में ही कितने रवीन्द्र या इक़बाल है ? दूसरा रवीन्द्र या दूसरा इकबाल ही कोई पेश कर दे ? यह तो बंगला या उर्दू के विकास की शिथिलता या नवीनता का सूचक है कि जब हम तुलसी प्राप्त कर चुके, उसके तीन-साढ़े तीन सौ वर्षों के बाद बंगला या उर्दू को रवीन्द्र या इक़बाल पाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ ? किसी भाषा को एक कालिदास, एक तुलसी, एक रवीन्द्र, एक इकबाल मिल जाय, यही बहुत है।

किसी भी भारतीय भाषा से एक-दो नाम हटा दीजिये, फिर हिन्दी से तुलना कीजिये, तो हमारा दावा है कि हिन्दी का आधुनिक साहित्य किसी भी भाषा के आधुनिक साहित्य से हीन या घटिया नहीं है। हाँ, यह हुआ है कि प्राकृतिक कारणों से किसी भाषा के किसी अंग का अधिक विकास हो गया ! किन्तु, यदि पूरे साहित्य के विकास पर

ध्यान दिया जाय, तो विरोधियों को भी स्वीकार करना पड़ेगा कि हिन्दी का साहित्य वैसा नहीं है, जैसा वह भ्रमवश मानते रहे हैं !

यह भ्रम क्यों हुआ ? और हम उनके इस भ्रम को क्यों तुरन्त स्वीकार कर लेते हैं ? हमें इस प्रश्न पर थोड़ा विचार कर लेना चाहिए।

हिन्दी का एक दुर्भाग्य यह रहा कि उसके पास न तो कलकत्ता रहा, न मद्रास, न बम्बई। आधुनिकता की देवी इस देश में इन्ही तीन रास्तों से तो पधारी। अतः हमें यह स्वीकार करने में जरा भी हिचक नही है कि आधुनिकता की किरण हमारे यहाँ देर मे पहुँची और आज तक हम उन वरदानों से बहुत कुछ वंचित हैं जिन्हें यह देवी अपने भक्तों पर प्रचुरता से बरसाती रहती है। फिर, बंगला, मराठी, तामिल भाषाओं के क्षेत्र भी परिमित रहे। नतीजा यह हुआ कि इस परिमित क्षेत्र में जो कुछ चीजें पैदा हुई, उन पर आधुनिक रंग ही सबसे पहले नही चढ़ा आधुनिक साधनों ने उनके रंग को और भी चमकीला-भड़कीला बना दिया ! इस उदाहरण के साथ यों कहिये कि इन भाषाओं को सुन्दर भवन मिला और इनके बोलने वालों के हाथ में माइक भी रहा। नतीजा यह कि इनकी बाजी खूब गूँजी ! उधर हिन्दी को एक बड़ा मैदान मिला—देवघर से दिल्ली और हिमाचल प्रदेश से मध्य-प्रदेश तक का विशाल, विस्तृत क्षेत्र, किन्तु माइक ही नदारद ! एक कोने की वाणी दूसरे कोने तक पहुंचने ही नही पाती, गूँज की बात ही क्या ?

हमने दुख के साथ देखा है कि बिहार में साहित्य का जो निर्माण हो रहा है, उससे दिल्ली वाले बिलकुल अपरिचित हैं। यों ही मध्यप्रदेश में जो कुछ किया जा रहा है, हिमाचल प्रदेश वालों को उसकी खबर भी नहीं। हिन्दी क्षेत्र की विशालता ही उसकी प्रगति में बाधक बन रही है—जो वरदान होना चाहिए, वह अभिशाप सिद्ध हो रहा है। फिर पटना, इलाहाबाद, लखनऊ, जयपुर, ग्वालियर, जबलपुर या रीवा में कोई ऐसा जबर्दस्त प्रचार का साधन भी नही कि हिन्दी साहित्य की प्रगति को वह देश के कोने-कोने तक पहुँचा सके। यह काम प्रायः अंगरेजी

अखबारों द्वारा ही सम्भव हो सकता था—इन क्षेत्रों में कहाँ ऐसे अखबार हैं ?

हम फिर उदाहरण पर आते हैं—बिहार के दो बंगाली लेखकों को लीजिये। 'बनफूल' को और 'सतीनाथ भादुड़ी' को। एक का घर भागलपुर है, दूसरे का पूर्णिया ! आज देश में इन्हे जितनी प्रसिद्धि प्राप्त हो चुकी है, क्या वैसी प्रसिद्धि बिहार के किसी हिन्दी-लेखक को प्राप्त हुई ? भादुड़ी की एक पुस्तक "जागरी" ने उसे यश और धन से तोप दिया ! क्यो ? ज्यों ही यह पुस्तक कलकत्ता में छपी, वहाँ के सभी अंगरेजी पत्रों में उसकी प्रशंसा छपने लगीं—"स्टेट्समैन" में भी उस पर विशेष लेख निकला—फिर क्या था, उस अज्ञात लेखक ने एक पुस्तक से ही भारत के साहित्यिक क्षेत्र में अपने लिए स्थान प्राप्त कर लिया ! "बनफूल" को भी इतनी प्रसिद्धि किसने दी ? कलकत्ता ने; वहाँ के आधुनिक प्रचार साधनों ने ! जिसे बिहार में उसके मुहल्ले के लोग भी नही जानते, वह बंगाल के घर-घर में ही व्याप्त नही है, भारत के साहित्य-जगत ने भी उसकी कृतियों पर स्वीकृति की मुहर लगा दी है !

कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, रूपक, आलोचना, इतिहास, राजनीति, अर्थनीति, विज्ञान, दर्शन—साहित्य का कौन ऐसा अग है, जिस पर हमने ऐसे काम नही किये, जिसके लिए हम लज्जा बोध कर सकें ? पहले हम इतिहास विज्ञान और दर्शन को ही लें। सिर्फ शोध को लीजिये, तो हम मराठी के सामने सादर सिर झुका लेगे—लेकिन, काशीप्रसाद जायसवाल, गौरीशकर हीराचन्द ओझा, जयचन्द्र विद्यालंकार, राहुल सांकृत्यायन और उनके पीछे लगभग एक दर्जन नौजवान लेखकों ने इस क्षेत्र में जितना काम किया है, उस पर किसी भाषा को भी नाज हो सकता है। स्वर्गीय रामदासजी गौड़ से लेकर श्री फूलदेवसहाय वर्मा तक आधे दर्जन से ऊपर के चोटी के लेखकों ने हिन्दी को जो वैज्ञानिक साहित्य दिया है, क्या उससे अधिक किसी भी प्रादेशिक भाषा में वैज्ञानिक साहित्य उपलब्ध है ? दर्शन की तो हमारी भूमि रही है—डा० भगवानदास ऐसा दार्शनिक किस प्रादेशिक भाषा को प्राप्त है ? हिन्दी के दार्शनिक साहित्य से एक दर्जन ऐसी पुस्तकें छाँट ली जा सकती हैं, जिन्हें

हम किसी भी भारतीय भाषा की दार्शनिक पुस्तकों के समकक्ष गौरव के साथ रख सकते हैं !

कविता को ही लीजिये—विषय और छन्द में हमने जितने प्रयोग किये हैं और करते जा रहे हैं, उनका महत्त्व यदि हमी अच्छी तरह नही समझ पायें, तो दूसरे को क्यों उपालम्भ दे ? कहानी और उपन्यास में प्रेमचन्द के बाद भी हमने बहुत कुछ किया है—उतना किया है कि इस विषय को लेकर भी लज्जाबोध करने का हमारे लिए कोई कारण नही ! हिन्दी संसार भर में रंगमच नही होने पर भी, नाटक, रूपक में भी हम कुछ ऐसी कृतियाँ दे पाये हैं जिन पर हम गर्व कर सकते है । हमारा आलोचना साहित्य भी काफी तगड़ा है ! राजनीति और अर्थनीति पर भी हमने कुछ गौरव-कारी ग्रंथ रचे हैं ।

हमने किया बहुत है ; किन्तु, वे चीजें ऐसी बिखरी-बिखरी हैं, कि उनका सामूहिक महत्त्व हम स्वयं नही समझ पाते है । इसीलिए जब कोई हमें कह देता है, आपका आधुनिक साहित्य क्या है, तो हम शरमा जाते हैं । पराये लोगों को हम दोष क्यों दें, जब हमी अपने साहित्य से अपरिचित हैं ।

इस सम्बन्ध में कुछ किया जाना चाहिए । हम समझते हैं, सब से पहला काम तो यह होना चाहिए कि हिन्दी के आधुनिक साहित्य की उत्तमोत्तम पुस्तकों की एक सूची तैयार की जाय । यह सूची विवरणा-त्मक होनी चाहिए, पुस्तक के लेखक और विषय का संक्षिप्त परिचय भी दिया जाय । यह सूची सिर्फ हिन्दी में नही हो, अगरेजी, उर्दू, मराठी, गुजराती, तामिल, तेलगू, बंगला आदि भारत की सभी प्रमुख भाषाओं में इसके संस्करण निकलने चाहिएँ ।

अभी यह सूची बहुत बड़ी नही होनी चाहिए—सौ से लेकर दो सौ पुस्तकों की ही यह सूची हो । हाँ, हम पुस्तकों के चुनाव में बहुत ही सावधानी रखें । हम उसमें ऐसी ही पुस्तकों के नाम दे, जिन्हें हम उनके विषयों की प्रतिनिधि-पुस्तक कह सकें । हमें बड़ी सावधानी से यह सूची तैयार करनी पड़ेगी; किन्तु, हम इसे कर सकेंगे, इसमें तो हमें शक ही

नहीं है । और, यह काम जितना जल्द हो जाय, हिन्दी के लिए उतना ही अधिक कल्याणप्रद सिद्ध होगा ।

मुझे बार-बार एक विज्ञापन की याद आती है, वह विज्ञापन था, एक दवा का । एक मरीज की खोपड़ी पर सलाख रखकर जिसे हथौड़े से ठोका जा रहा है और कहा जा रहा है, यह बात आपके दिमाग में हथौड़े की चोट से घुसा देने की है···! हाँ, कभी-कभी सच्चाई को भी इसी तरह हथौड़े और सलाख की सहायता से ही आदमी के दिमाग के अन्दर पहुंचाया जा सकता है । हम अन्य भाषा-भाषियों पर इसका प्रयोग न करें, किन्तु मुझे लगता है, अपना गौरव हम आप बोध कर सकें, इसके लिए हमें ऐसा करना ही पड़ेगा । फिर हमें अपने साहित्य, आधुनिक साहित्य, पर भी हीनता बोध करने की आवश्यकता नहीं रहेगी !

९

हमारा राष्ट्रीय रंगमंच

यह सौभाग्य की बात है कि हिन्दी-संसार का ध्यान रंगमंच की ओर प्रबल रूप से आकृष्ट हुआ है। प्रबल रूप से कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसा कभी नही रहा है कि हिन्दी में रगमंच का सर्वथा अभाव हो। आज भी प्रायः हर बड़े शहर में नाट्यमण्डलियाँ हैं और उनके द्वारा यदा-कदा नाटकों के अभिनय होते ही रहते हैं। स्कूल-कालेजों में हिन्दी के प्रवेश के बाद पठित और शिक्षित वर्ग द्वारा भी नाटक खेले जाते हैं और वे उत्तमोत्तम नाटक खेलने की भी चेष्टा करते हैं। किन्तु, इसमें शक नही कि हिन्दी रंगमंच भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद अपना वह रूप और स्तर कायम नही रख सका, जो राष्ट्र-भाषा के रंगमंच के गौरव के अनुकूल हो। रंगमंच के विकास के लिए यही आवश्यक नहीं है कि उच्च-कोटि के लेखकों द्वारा नाटक लिखे जायें; बल्कि आवश्यक यह है कि वे नाटक रंगमंच को ध्यान में रखकर लिखे जायें और उच्चकोटि के अभिनेता उन्हें सफल रूप में रंगमंच पर उतार सकें। हिन्दी का दुर्भाग्य यह रहा कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद ऐसे नाटक-लेखक नही पैदा हुए जो उच्चकोटि के लेखक होने के साथ रंगमंच से निकटतम सम्बन्ध रखते हों—जो रंगमंच की टेकनिक से परिचित हों, जो अपनी रचना को उस टेकनिक के अनुसार ढाल सकें, और सबसे बढकर स्वयं अभिनय कर सकें या अपने भावों के अनुसार अभिनेता को तैयार करा सकें। शेक्स-पीयर के नाटक इसलिए सफल रहे और आज भी सफलता से खेले जाते हैं, क्योंकि शेक्सपीयर स्वयं भी रंगमंच से गहरा सम्बन्ध रखता था, स्वयं अभिनेता था। बर्नार्ड शा स्वयं कभी रंगमंच पर नहीं उतरा किन्तु यह सर्वविदित है कि अपने नाटकों का रिहर्सल वह स्वयं कराता

था और तब तक दम नही लेता था जब तक उसके भावों के अनुसार अभिनेता और अभिनेत्री सफल अभिनय के लिए तैयार नही हो जाते। भारतेन्दु के नाटक इसीलिए सफल रहे, क्योकि वह स्वयं अभिनेता थे। उनके बाद पं० माधव शुक्ल, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी और प० बद्रीनाथ भट्ट के नाटक भी इसीलिए सर्वप्रिय हुए कि इन तीनो का रगमंच से गाढ़ा सम्बन्ध था। शुक्ल जी और चतुर्वेदी जी तो स्वय सफल अभिनेता भी थे। किन्तु, जिस प्रकार श्री जयशकर प्रसाद ने हिन्दी को उत्तमोत्तम नाटक देकर उसे गौरवान्वित किया ; उसी प्रकार यह भी सत्य है कि उन्होंने हिन्दी नाटक को रंगमंच से बिल्कुल दूर कर दिया। प्रसाद जी इतने बड़े आदमी थे कि उनका प्रभाव हिन्दी-ससार पर गहरा पड़ना ही था और तब से अब तक हिन्दी रंगमंच उस अभिशाप की छाया से दूर नही हो सका है। किन्तु, राष्ट्र-भाषा का रंगमंच इस दयनीय स्थिति में रह नही सकता था। कुछ समर्थ तरुण लेखको और कलाकारो ने इस अभिशाप को दूर करने की अनवरत चेष्टा की है और आज हिन्दी-संसार उस संधि-स्थल पर खड़ा है जब वह राष्ट्रीय रंगमंच का सपना देख सके और उसके लिए कदम बढा सके।

रगमंच के प्रमुख उपादान चार हैं—नाट्यकला के विशेषज्ञों द्वारा लिखे अच्छे नाटक, सामयिक उपकरणों से युक्त स्थायी रंगमंच, कुशल अभिनेता और अभिनेत्री तथा सुरुचि सम्पन्न दर्शक। दुर्भाग्य की बात है कि आधुनिक हिन्दी में इन चारों का अभाव-सा रहा है। प्रसाद जी ने हिन्दी-नाटक को रंगमच से जो दूर किया, वह परम्परा चली आती है। इसके अपवादस्वरूप कुछ ही व्यक्ति हैं, जो रंगमंच से सम्बन्ध रखने के कारण इस परम्परा से अपने नाटकों को पृथक् रख सके है। बहुत से ऐसे लेखक भी है, जिनके नाटक खेले जाने योग्य हैं; किन्तु मुख्यतः वे पढ़ने के लिए लिखे गये हैं, न कि खेलने के लिए। हिन्दी में स्थायी रंगमंच तो है ही नही। पटना, काशी, प्रयाग, लखनऊ, दिल्ली, इन्दौर, ग्वालियर, जयपुर, जबलपुर, नागपुर—इतने बड़े-बड़े नगर हिन्दी के अंचल में हैं; किन्तु उन नगरों में क्या एक भी ऐसा रंगमंच है, जहाँ आधुनिक नाटकों को सफलतापूर्वक अभिनीत किया जा सके ? जब कभी

उत्साही लोगों के हृदयों में नाटक खेलने की उमंग उठती है, किसी सभा-भवन को या सिनेमा-हॉल को कुछ परिवर्तनों के साथ रंगमंच में परिणत कर लिया जाता है, या कुछ बल्ले, बाँस और पर्दे से अस्थायी रंगमंच बना लिया जाता है, जो रंगमंच का खिलवाड़-मात्र होता है। स्थायी रगमंच के अभाव को भी मात करता है, अभिनेता और अभिनेत्रियों का अभाव। यह हिन्दी का सौभाग्य है कि उसे अभी एक पृथ्वीराज मिल गये हैं किन्तु अकेले चना क्या भाड़ फोड़ सकता है? और, अभिनेत्रियो की तो पूछिये ही नहीं! पढ़ी-लिखी, शरीफ घर की लड़कियाँ अन्य क्षेत्रों में पुरुषों से होड़ लेने में जरा भी नही झिझकती, किन्तु, रंगमंच पर उतरने की कल्पना से ही जैसे उन्हें थरथरी मार जाती है! इसका प्रमुख कारण है सुरुचिसम्पन्न दर्शकों का अभाव! हमारे दर्शकों की रुचि इतनी भ्रष्ट है कि कोई भद्र महिला उनके समक्ष रगमंच पर उतरने का साहस कर नही सकती। जहाँ हर सिनेमा में, चाहे उसकी कथावस्तु कुछ भी क्यों न हो, कक्कू के कमर-डुलान के बिना दर्शक को तृप्ति नही होती; वहाँ भला भद्रकुलीन लड़कियाँ अपनी भद्द क्यों करावें? हाल ही, इन पंक्तियों के लेखक को शिशिर कुमार भादुड़ी का "माइकेल मधुसूदन" देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। प्रसंगवश वह कही-कहीं इतने धीमे बोलते कि अगली पक्ति वालों को भी सुनने में कठिनाई होती। यदि अपने यहाँ ऐसी बात होती, तो "लाउडर प्लीज" का शोर मच जाता। किन्तु वहाँ लोग शिशिर बाबू के होठों का स्पंदन देखकर ही मुग्ध हो रहे थे। यह निश्चित बात है कि जब तक हमारे दर्शकों की रुचि परिमार्जित नही होती, तब तक अच्छे नाटकों का खेलना मुश्किल ही है।

साधनों के अभाव हैं, किन्तु उत्साह की कमी नही है। जब हिन्दी राष्ट्रभाषा हो चुकी, तो उसके लिए एक राष्ट्रीय रंगमंच होना ही चाहिए, यह सब अनुभव करते हैं! प्रश्न सिर्फ यह है कि इसका प्रारम्भ कैसे किया जाय, कहाँ से किया जाय? जालंधर से नागपुर और देवघर से दिल्ली तक का जो यह विस्तृत क्षेत्र है, उसमें प्रतिभा की कमी नही; धन की भी कमी नहीं। सिनेमा के सस्ते और चटपटे मनोरंजन से लोगों

का मन ऊबने लगा है। लोग सिनेमा-घरों में इसलिए जाते हैं कि मनो-रंजन का कोई दूसरा साधन सुलभ नहीं। इधर पृथ्वीराज ने अपने थियेटर के साथ इस हिन्दी-क्षेत्र का दौरा किया है। सब जगह उनके नाटकों के देखने के लिए भी भीड़ लगी रही। हिन्दी की बात छोड़िये—एरिक इलियट द्वारा प्रस्तुत शेक्सपीअर के नाटको के खेलने के लिए भी भीड़ बनी रही! हर नगर में, हर कालेज में, जो एमेचर नाटक मंडलियाँ हैं, उनके खेलों के देखने के लिए भी लोगों की भीड़ उमड़ आती है। हिन्दी के कुछ तरुण-लेखक नाटकों के नये-नये टेकनिक का प्रयोग कर रहे हैं और जब उनके नाटक रंगमच पर उतारे गये, तो दर्शक मत्रमुग्ध हो रहे। हर नगर में कुछ ऐसे नवयुवक हैं, जिनमें अभिनय की प्रतिभा प्रचुर मात्रा में पाई जाती है और यदि उन्हें सुविधायें और प्रोत्साहन मिले, तो वे कुछ ही दिनों में कमाल दिखला सकते हैं। आवश्यकता यह है कि इन प्रतिभाओं और साधनों को संघबद्ध किया जाय और कही एक स्थान पर भी एक ऐसा रगमंच बना लिया जाय, जहाँ हिन्दी-संसार के नाटककार और अभिनेता साल-भर में एक-दो सप्ताह के लिए एकत्र हों, वहाँ अच्छे-अच्छे नाटकों का अभिनय किया जाय और रंगमंच के विकास के लिए जमकर विचार-विमर्श किया जा सके। कभी साहित्य-सम्मेलनों और नागरी-प्रचारिणी सभाओं ने बहुत काम किये थे। किन्तु एक तो ये पुरानी संस्थायें दलबन्दी के अखाड़े बन गई हैं। दूसरे, जिन उद्देश्यों को लेकर इनकी स्थापना हुई थी, वे उद्देश्य या तो पूर्ण हो चुके या उनके कामों को अब सरकारों या सरकार-संचालित संस्थाओं ने ले लिया है। अब आवश्यकता यह है कि हिन्दी के भिन्न-भिन्न अंगों के विकास के लिए उनके विशेषज्ञों की छोटी-छोटी संस्थायें बनाई जायें और इसमें शक नहीं कि ऐसी सस्थाओं का श्रीगणेश हिन्दी के रंगमंच की वृद्धि और विकास के लिए गठित एक केन्द्रीय संस्था से ही किया जाना चाहिए। क्योंकि ऐसी संस्था के संगठन के लिए सारे उपादान यत्र-तत्र प्रस्तुत हो चुके हैं और उन्हें यदि एकत्र नहीं किया गया, तो हिन्दी की महान् क्षति होगी! किसी भाषा के गौरव का माप उसमें प्रकाशित काव्य या उपन्यास से ही नहीं किया

जाता, जीवित भाषा की पहचान इससे भी की जाती है कि उसका रंगमंच कितना विकसित है ! अँगरेजी, फ्रेंच, रूसी, चीनी आदि विदेशी भाषाओं की बात जाने दीजिये, अपने ही देश की बंगला और मराठी भाषाओं के सामने हमारा रगमंच कितना तुच्छ है, काश, हमने इस पर जरा गौर किया होता !

हिन्दी का यह परम सौभाग्य रहा है कि जो उसके आधुनिक रूप के जन्मदाता हैं, वह उसके रंगमंच के भी पिता रहे हैं ! हमारा अभिप्राय है भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से । नई हिन्दी का जन्म देते समय उनका ध्यान सबसे पहले रंगमंच की ओर गया, यह सिर्फ संयोग की बात नही थी ।

किसी भी भाषा की मूलभित्ति जनता की जिह्वा है । यदि वह भाषा जनता की जबान पर नही चढ़ी, तो फिर उसमें पोथे लिखते जाइये, न उसमें ताकत आयगी और न वह फल और फूल सकेगी । आजकल एक खास संस्कृतयी भाषा का विकास कालेज के प्रोफेसरों द्वारा किया जा रहा है । इस भाषा में पोथे भी कम नही लिखे गये हैं । किन्तु उनकी वह भाषा पोथों की ही भाषा रह गई है—उस भाषा में वे न तो अपने घर के लोगों से बातें कर सकते हैं; न बाजार या गाँव के लोगों से । बस, वह भाषा गुरु-शिष्य-संवाद की भाषा रह गई है । भारतेन्दु की व्यापिणी दृष्टि भाषा के उस मूलतत्व को देख सकी थी और वह यह जानते थे कि भाषा को जनता की जिह्वा तक पहुँचा देने की शक्ति सबसे अधिक रंगमंच में है । अतः उन्होंने नाटक लिखने पर सबसे अधिक ध्यान दिया; यही नही, स्वयं उन नाटकों में अभिनय कर रंगमंच की महिमा में चार चाँद लगाये । अच्छे, सम्पन्न घर में जन्म लेकर भी वह अपने नाटकों में अधम पार्ट करने में नहीं झिझकते; यही नहीं, काशी से बाहर जाकर भी नाटक दिखलाने में जरा भी संकोच नही करते थे । यह हमारे लिए अत्यन्त अशोभनीय बात रही है कि अब तक हम भारतेन्दु का कोई स्मारक नहीं बना सके ! क्यों नहीं हम काशी में "भारतेन्दु स्मारक रंगमंच" बना कर अपने को पितृऋण से मुक्त करें और उसका ही विकास अपने राष्ट्रीय रंगमंच के रूप में कर दिखायें । काशी सदा से कलाकौशल की भूमि रही है । भारत के भिन्न-भिन्न भागों से आकर वहाँ भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी

इस प्रकार बस गये हैं कि काशी को हम राष्ट्रपुरी भी कह सकते हैं। यों एक काशी में ही हमें भारतीय प्रतिभा के उत्तमोत्तम नमूने मिल जायँगे। उनके संयोग से हम वहाँ एक ऐसा रंगमंच बना सकेंगे, जिस पर हम गर्व कर सकेंगे। किन्तु इसके लिए सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि काशी के गण्यमान्य नागरिक और कला-प्रेमी इस ओर ध्यान दें। काशी आज भी गण्यमान्य आचार्यों, कलाप्रेमियों, साहित्य-स्रष्टाओं और साहित्य-प्रेमी नेताओं की नगरी है। ये सब के सब मिलकर कुछ निर्णय करें और हिन्दी संसार से इस राष्ट्रीय रंगमंच के निर्माण के लिए अपील करें, तो धन और प्रतिभा दोनों में से किसी की कमी नही रह जायगी, एसा हमारा विश्वास है। इस प्रसंग में हमें बार-बार स्वर्गीय शिवप्रसाद गुप्त जी की याद आती है! यदि वह होते और उनके मन में यह बात घर कर जाती, तो वह अकेले ही इस रंगमंच का निर्माण करके रहते। किन्तु क्या शिवप्रसाद गुप्तजी की परम्परा काशी से सदा के लिए लुप्त हो चुकी है? हम ऐसा नहीं मानते। बस, कार्य का श्रीगणेश किया जाय, सब तरह की सहायतायें सब दिशाओं से अवश्य ही प्राप्त होंगी।

किन्तु, रुपयों के जोर से कितना ही भव्य रंगमंच क्यों न बना लिया जाय, रंगमंच का आयोजन तब तक सफल नही हो सकता, यदि प्रारम्भ में उसे किसी समर्थ अभिनेता का पूर्ण सहयोग नही प्राप्त हो। शेक्सपीयर के गाँव में, उस घोर देहात में लंदन के प्रमुख पत्रों के बार-बार विरोध किये जाने पर भी, शेक्सपीयर स्मारक थियेटर की स्थापना इसलिए हो सकी कि फ्रेंक वेन्सन ऐसे अभिनेता प्रतिवर्ष वहाँ अपना अभिनय दिखाने को पहुँचने लगा। तरह-तरह की असुविधायें और प्रायः ही भर्त्सनायें सहकर भी तीस वर्षो तक वह उस घोर देहात में अपनी मंडली लेकर जा जमता रहा। फिर तो इङ्गलैण्ड के रंगमंच-प्रेमी जनता को उस छोटे-से गाँव में पहुँचने को बाध्य होना पड़ा; यही नही, देश-विदेश के अभिनेताओं और अभिनेत्रियों को भी उस गाँव को तीर्थस्थान-सा स्वीकार करना पड़ा। जहाँ पहले साल में सिर्फ एक सप्ताह तक वहाँ खेल चल सका, वहाँ अब छः महीनों तक वह गाँव गुलजार रहता है। हम चाहते हैं, स्ट्रैटफोर्ड ऑन एवेन के लिए जो फ्रेंक वेन्सन ने किया, वह काशी के लिए पृथ्वीराज

जी करें। अभी सिर्फ एक सप्ताह के लिए ही वहाँ अभिनय किये जायें। फिर तो लोगों की उत्सुकता आप ही बढने लगेगी! काशी में उन्हें असुविधायें कम नही मिलेंगी, किन्तु स्ट्रैटफोर्ड की तुलना में वे असुविधायें नगण्य होंगी। हाँ, आर्थिक प्रश्न जरूर सामने आयगा। हम नही चाहते, पृथ्वीराज जी को आर्थिक झंझटों में डाला जाय। एक तो हमारा विश्वास है कि यदि अच्छा भवन हो और टिकट बेचने का अच्छा प्रबन्ध हो, तो आर्थिक घाटा बहुत ही कम होगा। किन्तु जो भी घाटा हो, उसे भारतेन्दु स्मारक समिति को उठाना चाहिए। साथ ही, हम यह चाहते हैं कि वहाँ सिर्फ पृथ्वीराज जी के नाटकों का ही अभिनय नहीं हो, बल्कि हिन्दी संसार की अमेचर नाटक-मंडलियों को भी वहाँ अपने अभिनय दिखाने का अवसर दिया जाय, जिसमें छिपी हुई प्रतिभाओं को उभड़ने का मौका मिले। पृथ्वीराज जी के सम्पर्क से वे प्रतिभायें खिल उठेंगी और यों पृथ्वीराज जी हिन्दी-संसार को कितने ही आदर्श अभिनेता और अभिनेत्री देने का गौरव भी प्राप्त कर सकेंगे। कलाकार को सिर्फ फूल नही होना है, जो दो दिनों के लिए खिलकर, संसार को सौन्दर्य और सुगन्ध देकर, फिर झड़ पड़े। कलाकार को वट-वृक्ष होना है, जिसकी शीतल छाया में मुरझी-झुलसी आत्मा को अधिकाधिक काल तक शीतलता प्राप्त होती रहे और जो सूखने के पहले असंख्य बीज बिखर कर कितने ही वट-वृक्षों का जन्म दे जाय। पृथ्वीराज जी में कलाकार के सभी गुण हैं; अतः हमें पूरी आशा है, यदि हिन्दी-संसार उन्हें यह काम सौंपे और इसके लिए उपयुक्त वायुमंडल तैयार कर सके, तो वह हिन्दी को एक राष्ट्रीय रंगमंच देकर ही रहेंगे।

हिन्दी का राष्ट्रीय रंगमंच भारतेन्दु के नाम से सम्बद्ध हो और उसकी स्थापना काशी में ही की जाय, यह हमारा निश्चित मत है। किन्तु, जब तक काशी के लोग इस ओर कदम नहीं बढ़ायें, तब तक क्या हिन्दी-संसार निरपेक्ष दर्शक की तरह देखता रहे? नही। राष्ट्रीय रंगमंच की स्थापना के लिए एक व्यापक वायुमण्डल जब तक तैयार नहीं हो जाता, तब तक इस दिशा में प्रगति नही हो सकती। इस वायुमण्डल के लिए सबसे पहली आवश्यकता तो यह है कि हिन्दी अंचल के प्रत्येक प्रमुख

नगर में जितनी नाट्यमण्डलियाँ हैं, वे संघबद्ध हों और हर नगर में कम-से-कम एक छोटा-बड़ा स्थायी रंगमंच बनाने की चेष्टा की जाय और उसके द्वारा स्थानीय अभिनय-प्रतिभा को संगठित और विकसित करने का अनवरत प्रयत्न हो। यदि हिन्दी-अंचल में दो दर्जन ऐसे रंगमंच बन गये, तो वे हिन्दी के राष्ट्रीय रंगमंच के लिए आधारशिला सिद्ध होंगे। इसके साथ ही हिन्दी के राष्ट्रीय रंगमंच के लिए व्यापक आन्दोलन हिन्दी क्षेत्र के कोने-कोने में किया जाय और प्रादेशिक सरकारों एवं केन्द्रीय सरकार से अनुरोध किया जाय कि वे अपने प्रदेशों के रंगमंचों तथा इस राष्ट्रीय रंगमंच के लिए यथोचित सहायता दें। हमने "नई धारा" के इस रंगमंच-अंक का आयोजन इसीलिए किया था कि इस प्रश्न की ओर हिन्दी-संसार का ध्यान जाय। हमारा यह प्रयत्न अधूरा रह गया, इसका हमें अफसोस है किन्तु यदि इस तुच्छ प्रयत्न के चलते हिन्दी-संसार में रंगमंच के लिए और खासकर एक राष्ट्रीय रंगमंच के निर्माण के लिए थोड़ी सुगबुगाहट पैदा हो, तो हम अपना प्रयत्न सार्थक समझेंगे।

१०

नाटक का नया रूप

बर्नार्ड शॉ आधुनिक युग के एक सफल नाटककार रहे हैं। पाश्चात्य रंगमंच को उन्होंने बहुत कुछ दिया है। और, रंगमंच ने भी उन्हें कम नहीं दिया। अपने जमाने के वह सबसे धनी साहित्यकार थे।

उनके नाटक जिस सफलता से खेले गये, दर्शकों को उन्होंने जिस प्रकार अनुरंजित किया, उसी प्रकार उनके नाटकों के छपे रूप भी लोगों के गलहार रहे और इस मद से भी बर्नार्ड शॉ को कम आय नहीं हुई। बर्नार्ड शॉ को जगत्प्रसिद्ध बनाया, तो मुख्यतः उनके छपे नाटकों ने ही। इसलिए यह स्वाभाविक था कि उनका ध्यान छपे नाटकों के रूप-रंग की ओर भी जाता। शॉ को कलाकार कहलाने का ही शौक नहीं था, वह अपनी कला के प्रचार-पक्ष पर भी उसी तरह की पैनी दृष्टि रखते थे।

उनके नाटक के लिखित रूप में कुछ विशेषतायें हैं। उन विशेषताओं ने उनके नाटकों के प्रचार में और भी मदद पहुँचाई थी। उदाहरणतः हर नाटक के प्रारम्भ में वह एक अच्छी भूमिका दे देते थे, जो उस नाटक से सम्बन्धित हर विषय पर सम्यक प्रकाश डालता था। अपने "सीजर और क्लेओपेट्रा" की भूमिका में उन्होंने उस नुस्खे की भी चर्चा की जो सिर के गंजेपन को दूर करे। सीजर का सिर गंजा था, कहा जाता है, क्लेओपेट्रा चाहती थी यह गंजापन दूर हो जाय और इसके लिए उसने एक नुस्खा भी सीजर को बताया था।

कही-कहीं तो भूमिका ही नाटक से अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई है। बहुत लोग तो नाटक के बदले बर्नार्ड शॉ की भूमिका के पढ़ने में ही अधिक रस लेते हैं।

अपने नाटकों के अंक और दृश्य के पहले वह एक लम्बा वर्णन दे देते हैं और उसमें इब्सन की तरह सिर्फ मंच की रूपरेखा का ही चित्रण नहीं होता। पात्र-पात्रियों के रूपरंग का वर्णन, तत्कालीन इतिहास और परिस्थिति का वर्णन, यहाँ तक कि सन-सम्वत तक की चर्चा वह कर देते हैं। दृश्यों के बीच-बीच में भी, यथास्थान, ऐसे वर्णन देने से वह नहीं सकुचाते।

ऐसा करने के लिए क्या औचित्य था, इसकी कैफीयत उन्होंने अपने पहले नाटक-संग्रह (प्लेज़ अनप्लेजेंट्स) में ही दे दिया है।

उनका कहना है, यह सम्भव नही कि सभी नाटक रंगमंच पर ही खेले जायँ और उन्हें वही देखा जाय। पाश्चात्य देशों में नाटक देखने का बड़ा शौक है, किन्तु तोभी वहाँ भी कितने आदमी ऐसे सौभाग्य-शाली हैं जिनके पास नियमित रूप से नाटक देखने के लिए साधन और समय उपलब्ध हों? तो नाटककार क्या उन्हीं लोगों पर सन्तोष कर ले, जो किसी तरह, कभी-कभी, थियेटरों में पहुँच जाते हैं। निस्सन्देह, नाटककार चाहेगा कि उसकी चीज अधिक से अधिक लोगों तक पहुँचे। किन्तु, क्या वह नाटक लिखते समय भी इन बातों पर कभी ध्यान रखता है?

शॉ के ही शब्दों में सुनिये—

"यह स्पष्ट है कि नाटक को साहित्यिक माध्यम से पेश किया जाना अभी कला का रूप नहीं धारण कर सका है। इसलिए अँगरेजी जनता को नाटक खरीदकर पढ़ने के लिए प्रेरित करना बड़ा ही कठिन है। वे वैसा क्यों करें जबकि नाटकों में सिर्फ शब्दों (वार्तालापों) की ही भरमार रहती है। हाँ, जरा-जरा-सा उल्लेख रहता है जो उन हिदायतों का जिनसे रंगमंच बनाने वाले बढ़ई या पोशाक बनाने वाले दर्जी फायदा उठा सकते हैं।······आश्चर्य की बात तो यह है कि तीन अंकों का एक नाटक तैयार करने में दो साल लगाने वाले इब्सन ने भी इन्हीं हिदायतों से सन्तोष कर लिया जबकि उनके नाटकों की विशिष्टता का तकाजा था कि वह पात्रों के चरित, वंशावली तथा उन विशेष परिस्थितियों

पर प्रकाश डालते जिनके कारण वैसी अघट घटनायें घटीं।"

(प्लेज़ अनप्लेजेंट्स)

जब आदमी नाटक-भवन में होता है, रंगमंच के सामने होता है, तो स्वभावतः ही उसकी मनोवृत्ति उस नाटक के साँचे से ढलने को तैयार रहती है और ज्यों-ज्यों अभिनय विकसित होता जाता है, वह अपने को बिल्कुल ही वैसी स्थिति में पाता है, मानों घटना उसके सामने घट रही है। लेकिन जब वह पुस्तक लेकर अपने घर में नाटक पढ़ने बैठता है, तो उसका मस्तिष्क नाटक की उस स्थिति तक पहुंचे, इसके लिए आवश्यक है कि प्रारम्भ में कुछ ऐसा सजीव वर्णन उसके सामने उपस्थित किया जाय जो रंगमंच के अभाव को दूर कर दे। यानी जो काम बढई, दरजी, पेंटर सब मिलकर कर पाते हैं, उसे अकेले लेखक को ही सिर्फ शब्दों के माध्यम से करना पड़ेगा, तभी उसके नाटक का स्वाद पाठक ले सकेंगे और तभी उसके नाटक को लोगों में खरीदकर पढ़ने की उत्सुकता होगी फिर बर्नार्ड शॉ के शब्दों में ही—

"अतः आवश्यकता सिर्फ यह नहीं है कि नाटक के वार्तालाप को आप पुस्तकाकार छापकर प्रकाशित कर दें, किन्तु उचित यह है कि आप ऐसी चेष्टा करें कि नाटक का पूरा भाव उसके पाठकों के सामने हूबहू प्रत्यक्ष हो सके। निस्सन्देह इसका अर्थ होगा बिल्कुल एक 'नई कला' का विकास।" (वही)

इसका अर्थ यह हुआ कि बर्नार्ड शॉ के अनुसार आज तक जो नाटक लिखने की कला है, वह सिर्फ रंगमंच के लिए नाटक लिखने की कला है। लेकिन अब उचित यह है कि रंगमंच के दर्शकों के लिए ही अपनी कला को परिमित नहीं रखा जाय बल्कि हम अपनी कला को इस प्रकार उन्नत करें कि वह पाठकों के लिए उतना ही मनोरंजनप्रद हो। इस प्रकार की विकसित नाटक-लेखन-कला कालक्रम में एक स्वतंत्र कला का भी रूप धारण कर ले सकती है। शॉ का कहना है, कि पुराने नाटककारों ने, जबकि रंगमंच का इतना विकास नहीं हुआ था, जो नाटक लिखे, उनमें इस तरह के वर्णन वार्तालाप के अन्दर ही आते

हैं कि उनके पढने में भी रस मिलता है। "किन्तु, कितने ही आधुनिक नाटक, यद्यपि वे खेले जाने पर बहुत ही सफल सिद्ध हुए हैं, पढ़ने के लायक बिल्कुल ही नही हैं, यहाँ तक कि मच से अलग उन्हें समझा भी नही जा सकता है।" (वही)

बर्नार्ड शॉ ने अपने नाटकों को ऐसा बनाया, जो पढ़ने में भी रुचिकर हो, किन्तु, एक ऋषि की तरह उन्होंने कल्पना की थी कि कुछ दिनों के बाद उनका यह प्रयत्न भी बौना समझा जायगा और दृश्यों या अंकों के ऊपर एक पूरा अध्याय ही नही, कई अध्याय लिखने की आवश्यकता आ पड़ेगा। उस समय नाटकों का जो नया साहित्यिक रूप बनेगा, वह कुछ अंशो में व्याख्या, कुछ अंशों में वर्णन, कुछ अंशों में व्याख्यान, कुछ अंशों में वार्तालाप और कुछ अंशों में ही नाटक होगा। वे नाटक मुख्यतः पढे ही जायँगे।

लेकिन, रंगमंच की दृष्टि में रखकर ही आज जो नाटक लिखे जायँ, उनमें भी ऐसे वर्णन तो रहने ही चाहिएँ कि उन्हें उस रूप में भी पढ़कर पाठक नाटक के आनन्द की पूरी अनुभूति प्राप्त कर सकें। शॉ सिर्फ नाटक-लेखक ही नही थे, अपने नाटकों की तैयारी में वह स्वय भाग लेते थे, रिहर्सल करते थे, रंगमंच की छोटी-छोटी बातों पर भी ख्याल रखते थे। उनका अपना अनुभव है कि नाटक को इस रूप में लिखने से नाटक के निर्माता को भी सारी बातें ज्ञात रहती हैं कि वह किस युग की, किस परिस्थिति की अवतारणा कर रहा है, यही नही, नाटक के पात्र और पात्रियों की भी अपने पार्ट के बारे में पूरी जानकारी होती है, फलतः वे अँधेरे में नहीं टटोलकर तुरंत ही अपने पार्ट को हृदयंगम कर लेते हैं। इस तरह उस नाटक के खेलने में भी पूरी सफलता की आशा रहती है, जैसा कि शॉ के नाटकों के सम्बन्ध में हुई।

हिन्दी में रंगमंच तो है ही नहीं, यहाँ तो नाटकों के पाठकों का ही भरोसा है। अभी एक प्रकाशक से बातें हुई—उन्होंने बताया, जब तक कि किसी परीक्षा की पाठ्यसूची में नहीं लग जाता, नाटक की बिक्री बहुत ही कम होती है। इसका कारण क्या वही नहीं है, जिसकी ओर

बर्नार्ड शॉ ने इशारा किया है। हमारे नाटक-लेखक आँख मूँदकर अनुसरण करते जा रहे हैं। लेखकों से भी बढकर तो आलोचकों की हालत है जो बँधी-बँधाई परिभाषा के अनुसार ही सभी साहित्यिक कृतियों की नापजोख करते हैं। जहाँ उनकी या उनके पूर्वजों की बनाई लकीरों से आप हटे कि वे बिगड़ पड़े। जब कोई नई चीज लेकर आता है, वे घबरा उठते हैं। अपनी "अम्बपाली" के बारे में मेरा ऐसा अनुभव हुआ है। संयोग से वह पाठ्यसूची में लगी—जितने विद्यार्थी थे, सब पसंद करते थे, जितने अध्यापक थे, सब इसी से प्रारम्भ करते थे कि स्वीकृत परिभाषा के अनुसार यह नाटक ही नहीं। पं० माखनलाल चतुर्वेदी ने ऐसे ही आलोचकों को जूते की माप से पैर की माप लेने वाले अजीबोगरीब मोची बताया है।

समरसेट माडम जीवित नाटककारों में प्रमुख है। उन्होने अपनी नाटकावली के तीसरे भाग में नाटक के भविष्य के बारे में विचार किया है। उनका कहना है कि आज नाटक जहाँ पहुंच चुका है, उसका भविष्य अंधकारमय है। विशुद्ध गद्य में सिर्फ वार्तालाप द्वारा चरित का विकास देखते-देखते लोग ऊब उठे हैं। किन्तु, इसका यह अर्थ नहीं कि नाटक का अन्त हो जायगा। हाँ, जहाँ वह पहुंच चुका है, उसे मुडना पड़ेगा। "पहले के नाटक दृश्यों और नृत्यों द्वारा आँखों को और कविता एवं संगीत के द्वारा कानों को तृप्त करते थे। मै नही समझता कि क्यों नहीं हमारा नवीन नाटककार इन कलाओं से सहायता ले।" माडम ने इस पर विस्तार मे विचार किया है। वह तो यहाँ तक जाता है कि नाटक में प्रहसन पक्ष की जो उपेक्षा की गई है, उसका भी समावेश उचित संशो-धन के साथ किया जाना चाहिए। विचार-प्रधान नाटकों के युग बीत गये : वह जहाँ तक पहुंच चुका है, अब नया मोड़ नहीं लिया गया, तो हर पुराने पेड़ की तरह उसे सूखकर झड़ जाना पड़ेगा।

किन्तु, दुर्भाग्यवश, हमारे यहाँ तो नाटक विकसित होने के पहले ही मुरझा रहा है। कोई भी साहित्यिक कृति सिर्फ पाठ्य-पुस्तक बनकर नही जी सकती और न इस युग में सिर्फ स्वान्तःसुखाय रचना हो सकती है। जनहित ही नहीं, जनरुचि को भी ध्यान में रखना ही होगा।

जनता नाटक पढ़ना चाहती है, नाटक खेलना भी चाहती है। किन्तु, हम नाटक का जो रूप उसके सामने रखते हैं, उसे वह समझ भी नहीं पाती। अपनी इच्छा प्रगट करने के उसके भी तरीके हैं। उसका एक तरीका यह भी है कि हम तुम्हारी चीज नही खरीदेंगे। यह सबसे प्रभावशाली तरीका है। यहाँ आप जोर-जबर्दस्ती चला नही सकते। आपको यथारुचि लिखने का अधिकार है, तो उसको भी अपनी इच्छा के अनुसार खरीदने का हक है। नाटक के वर्तमान रूप पर वह मत दे चुकी है। सात समुद्र पार, जहाँ नाटक और रंगमंच दोनों विकसित हैं, वहाँ के एक महान् नाटककार ने उसके मत का आदर किया, फलतः वह आधुनिक युग का सफलतम नाटककार के रूप में स्वीकार किया गया। आप भी अपनी जनता की रुचि को ध्यान में रखकर अपनी नाटक-लेखन कला में परिवर्तन लाइये, नाटक को एक नया साहित्यिक रूप दीजिये, इसी में आपका और नाटक का दोनों का कल्याण है। नही तो भूखों मरिये। हाँ, आपको यह अधिकार तो है ही।

११

हम कहाँ जा रहे हैं ?

उस दिन एक उर्दू लेखक मित्र मेरे घर आये। कुछ देर इधर-उधर की बात करने के बाद बोले--दोस्त, तुम्हारे हिन्दी लेखकों को हो क्या गया है ? जहाँ बैठते हैं, एक दूसरे को गालियाँ ही बकते हैं। मेरे मित्र को एक कड़वा अनुभव तुरत-तुरत हुआ था। वह एक होटल में शाम को चाय पीने गये थे। देखा, वहाँ एक टेबुल पर कुछ नौजवान साहित्य-कार बैठे हुए है। बेचारे उसी ओर लपके। चाय-वाय के साथ गप्पें होने लगीं। उन्होंने लगे हाथों हिन्दी साहित्य की प्रगति जाननी चाही। फिर क्या था, यारों ने एक-एक बुजुर्ग लेखक की पगड़ी उछालना शुरू किया। वह खूसट हो चले, वह तो मर चुके, वह सदा के चोट्टे रहे हैं, उनकी बक-बक अब कौन सुनता है, आदि आदि ! मेरे मित्र को बड़ी परेशानी हुई। अरे, यह क्या ? वह दौड़े-दौड़े मेरे पास आये और धीरे-धीरे सारा माजरा सुनाकर इस बात पर सख्त अफसोस जाहिर किया और बताया, उर्दू में ऐसी बदतमीजी नही होती। जिससे मतभेद भी होता है, पीठ-पीछे उसकी भी निन्दा नही की जाती, हाँ, आमने-सामने भले ही लड़ लिया जाय। उन्होने पुराने उस्तादों की कितनी कहानियाँ सुनाई और नये लोगों के एखलाक का भी लम्बा बयान दिया। जिन लोगों से उनकी बातें हो चुकी थीं, वे भी कोई ऐरे-गैरे नहीं थे। साहित्य में उनका स्थान बन चुका है; बुजुर्गों के मुँह से मेरे मित्र-महोदय उन लोगों की तारीफें भी सुन चुके थे। फिर उनकी ऐसी गैर जिम्मेवाराना बातें मेरे मित्र को क्यों नहीं खटकें ? उन्होंने बड़े दर्द से कहा—प्यारे मेरे, इन चीजों को रोको, ये तुम्हारे अदब को जहन्नुम में ले जायँगी !

कुछ दिन हुए, हिन्दी के एक नये लेखक एक प्रसिद्ध साहित्यिक

स्थान में गये थे। बड़े हौसले लेकर गये थे वे—इनके दर्शन करेंगे, उनकी चरण-धूलि सिर पर लेंगे। वहाँ गये और एक परिचित साहित्यिक के साथ ठहर गये। वहाँ से जब वे एक आचार्य से मिलने चले, तब उस सज्जन ने पूछा, कहाँ जा रहे हो। उन्होंने बता दिया, तब तुरंत सलाह दी गई, खबरदार यह मत कहना कि तुम मेरे साथ ठहरे हो। आगन्तुक सज्जन भौचक। उनका पेशोपेश देख उस सज्जन ने समझाया, देखो, यहाँ इस शहर में आचार्यत्व की तीन पीठिकायें हैं। हर पीठ की अलग-अलग शिष्यमण्डली है। हर मण्डली चेष्टा करती है, कि वह संसार पर यह सिद्ध कर दे कि उसकी आचार्य-पीठ सबसे बडी, सबसे महान् है। यहाँ तक तो ठीक भी होता; किन्तु लिखने के समय तो सिर्फ यहाँ तक किया जाता है किन्तु जहाँ तक बातचीत का प्रश्न है—एक पीठ की शिष्यमण्डली दूसरी पीठ के आचार्य को नीचातिनीच सिद्ध करने की कोशिश करने में कुछ नही उठा रखती। सिर्फ यही नही, एक पीठ की शिष्यमण्डली दूसरी पीठ की शिष्यमण्डली को देखते ही पागल कुत्ते-सी टूटती है—फिर जो दृश्य होता है, उसकी कल्पना करो। उस सज्जन ने आगे बताया कि चूँकि मैं कुछ ही दिन पहले यहाँ आया और आते ही यह भाँप गया, अतः तीनों से अलग रहने की कोशिश की है। नतीजा यह है कि तीनों पीठ के कुत्ते मेरे पीछे लगे हैं। आगन्तुक सज्जन का सारा साहित्य-प्रेम, आचार्य प्रेम हवा हो गया। किन्तु, उन्होंने सोचा, जरा आजमाकर देखूँ और तीन दिनों तक वहाँ का जो भयानक दृश्य देखा, फिर चौथे दिन वहाँ ठहर नही सके। बड़े कटु अनुभव लेकर आये और तब से उन्होंने यह नियम बना लिया है, सरस्वती के इन सपूतों से जितनी ही अधिक दूरी पर रहा जाय, उतना ही अपना और साहित्य का कल्याण है।

अभी-अभी मै इस समस्या पर एक सुप्रसिद्ध कवि से बातें कर रहा था। उन्होंने भी अपने कड़वे अनुभवों का एक लम्बा किस्सा बताया और फिर एक सुप्रसिद्ध दार्शनिक ने भी पुस्तक निकालकर उससे कुछ अवतरण सुनाये। उस दार्शनिक ने इन निन्दापरायण व्यक्तियों की उपमा बर्रे से दी थी। ये लाल-पीले चोले वाले जीव हर जगह मँडराते फिरते हैं। जहाँ मिठाइयाँ देखीं, वे अनामंत्रित ही उपस्थित हो जाते

हैं और जहाँ एकान्त देखा, वहीं अपना खोता बना लेते हैं ! ये भन्न-भन्न करते पहले तो जैसे यशगान करते दीखते हैं, किन्तु वहाँ मिठाई का शीरा पाने में बाधा दी गई कि डंक मारे विना नही छोड़ते ! और, जहॉ इनका खोता बना, वहाँ से तो बिना लुकाठी दिखाये, ये हटते ही नही। उस दार्शनिक ने कहा है, कभी मत सोचो कि तुम इन्हें शीरा पिला-पिलाकर संतुष्ट कर सकोगे। नही, यह इनका स्वभाव नही है। ये डंक मारेंगे ही। इनसे बचने का एक ही उपाय है, जहाँ इन्हें देखो, वहाँ से टल जाओ और इन तुच्छ जीवों को भन्न-भन्न करते छोड़ दो और होशियारी रखो, कही तुम्हारे किसी कमरे में ये खोते नही बना पायें। कवि महोदय ने कहा, भाई, जब से उस दार्शनिक का हमने यह सुझाव पढ़ा है, मै वैसा ही बरतता हूँ और तुम से भी कहता हूँ, यही करो, नही तो व्यर्थ की परेशानी मे पड़ जाओगे और जो थोडी-बहुत सेवा कर पाते हो, वह भी नही हो सकेगी। उन्होने हँसते हुए यह भी कहा—भाई, अब हम जिस उम्र में पहुंच गये है, हम में ऐसी ताकत भी तो नही रह गई कि लुकाठी भॉजते फिरें, अतः ऐसे जीवों से दूर-दूर रह कर ही कुछ करते जाना सर्वश्रेयस्कर है !

हाँ श्रेयस्कर तो यही है। अपनी जिन्दगी में इसे उतारकर कुछ शान्ति का अनुभव भी किया है। किन्तु मनुष्य क्या सिर्फ अपने बारे में ही सोचकर सन्तोष कर ले सकता है ? यह तो एक सामाजिक प्राणी है, इसके कुछ सामाजिक उत्तरदायित्व भी हैं। उन उत्तरदायित्वों के प्रति उपेक्षा करके क्या वह जी सकता है ? यदि सभी आदमी अपने को इसी तरह बचाने की कोशिश करने लगें तो फिर बर्रों का ही राज्य संसार में छा जाय। और, एक बात और भी। हमारे जिन भाइयों में बर्रे का यह दुर्गुण आ गया है, वे बर्रे नहीं, मनुष्य हैं। किसी खास परिस्थिति के कारण ही उनमें यह दुर्गुण आया, हम ऐसा क्यों नहीं समझें ? और जरा यह भी क्यों नहीं सोचें कि उनमें दुर्गुण के प्रवेश कराने में हमारा भी कुछ हाथ है या नही ? उस होटल के टेबुल पर जो लोग बैठे थे, उनके या उनके ऐसे दूसरे लोगों के साथ हमारा क्या व्यवहार रहा है—क्या यह हमारे लिए सोचने की बात नही है ? और इनमें

स्थान में गये थे। बड़े हौसले लेकर गये थे वे—इनके दर्शन करेंगे, उनकी चरण-धूलि सिर पर लेंगे। वहाँ गये और एक परिचित साहित्यिक के साथ ठहर गये। वहाँ से जब वे एक आचार्य से मिलने चले, तब उस सज्जन ने पूछा, कहाँ जा रहे हो। उन्होंने बता दिया, तब तुरंत सलाह दी गई, खबरदार यह मत कहना कि तुम मेरे साथ ठहरे हो। आगन्तुक सज्जन भौचक। उनका पेशोपेश देख उस सज्जन ने समझाया, देखो, यहाँ इस शहर में आचार्यत्व की तीन पीठिकाये हैं। हर पीठ की अलग-अलग शिष्यमण्डली है। हर मण्डली चेष्टा करती है, कि वह संसार पर यह सिद्ध कर दे कि उसकी आचार्य-पीठ सबसे बड़ी, सबसे महान् है। यहाँ तक तो ठीक भी होता; किन्तु लिखने के समय तो सिर्फ यहाँ तक किया जाता है किन्तु जहाँ तक बातचीत का प्रश्न है—एक पीठ की शिष्यमण्डली दूसरी पीठ के आचार्य को नीचातिनीच सिद्ध करने की कोशिश करने में कुछ नही उठा रखती। सिर्फ यही नही, एक पीठ की शिष्यमण्डली दूसरी पीठ की शिष्यमण्डली को देखते ही पागल कुत्ते-सी टूटती है—फिर जो दृश्य होता है, उसकी कल्पना करो। उस सज्जन ने आगे बताया कि चूँकि मै कुछ ही दिन पहले यहाँ आया और आते ही यह भाँप गया, अतः तीनों से अलग रहने की कोशिश की है। नतीजा यह है कि तीनों पीठ के कुत्ते मेरे पीछे लगे है। आगन्तुक सज्जन का सारा साहित्य-प्रेम, आचार्य प्रेम हवा हो गया। किन्तु, उन्होने सोचा, जरा आजमाकर देखूँ और तीन दिनों तक वहाँ का जो भयानक दृश्य देखा, फिर चौथे दिन वहाँ ठहर नही सके। बड़े कटु अनुभव लेकर आये और तब से उन्होंने यह नियम बना लिया है, सरस्वती के इन सपूतों से जितनी ही अधिक दूरी पर रहा जाय, उतना ही अपना और साहित्य का कल्याण है।

अभी-अभी मै इस समस्या पर एक सुप्रसिद्ध कवि से बातें कर रहा था। उन्होंने भी अपने कड़वे अनुभवों का एक लम्बा किस्सा बताया और फिर एक सुप्रसिद्ध दार्शनिक ने भी पुस्तक निकालकर उससे कुछ अवतरण सुनाये। उस दार्शनिक ने इन निन्दापरायण व्यक्तियों की उपमा बर्रे से दी थी। ये लाल-पीले चोले वाले जीव हर जगह मँडराते फिरते हैं। जहाँ मिठाइयाँ देखीं, वे अनामंत्रित ही उपस्थित हो जाते

हैं और जहाँ एकान्त देखा, वही अपना खोता बना लेते हैं ! ये भन्न-भन्न करते पहले तो जैसे यशगान करते दीखते हैं, किन्तु वहाँ मिठाई का शीरा पाने में बाधा दी गई कि डंक मारे बिना नही छोड़ते ! और, जहाँ इनका खोता बना, वहाँ से तो बिना लुकाठी दिखाये, ये हटते ही नही। उस दार्शनिक ने कहा है, कभी मत सोचो कि तुम इन्हें शीरा पिला-पिलाकर संतुष्ट कर सकोगे। नही, यह इनका स्वभाव नहीं है। ये डंक मारेंगे ही। इनसे बचने का एक ही उपाय है, जहाँ इन्हें देखो, वहाँ से टल जाओ और इन तुच्छ जीवो को भन्न-भन्न करते छोड़ दो और होशियारी रखो, कहीं तुम्हारे किसी कमरे में ये खोते नही बना पायें। कवि महोदय ने कहा, भाई, जब से उस दार्शनिक का हमने यह सुझाव पढ़ा है, मैं वैसा ही बरतता हूँ और तुम से भी कहता हूँ, यही करो, नही तो व्यर्थ की परेशानी में पड़ जाओगे और जो थोडी-बहुत सेवा कर पाते हो, वह भी नही हो सकेगी। उन्होने हँसते हुए यह भी कहा—भाई, अब हम जिस उम्र में पहुंच गये हैं, हम में ऐसी ताकत भी तो नही रह गई कि लुकाठी भाँजते फिरें, अतः ऐसे जीवो से दूर-दूर रह कर ही कुछ करते जाना सर्वश्रेयस्कर है !

हाँ श्रेयस्कर तो यही है। अपनी जिन्दगी में इसे उतारकर कुछ शान्ति का अनुभव भी किया है। किन्तु मनुष्य क्या सिर्फ अपने बारे में ही सोचकर सन्तोष कर ले सकता है ? यह तो एक सामाजिक प्राणी है, इसके कुछ सामाजिक उत्तरदायित्व भी हैं। उन उत्तरदायित्वों के प्रति उपेक्षा करके क्या वह जी सकता है ? यदि सभी आदमी अपने को इसी तरह बचाने की कोशिश करने लगें तो फिर बर्रो का ही राज्य संसार में छा जाय। और, एक बात और भी। हमारे जिन भाइयों में बर्रे का यह दुर्गुण आ गया है, वे बर्रे नहीं, मनुष्य हैं। किसी खास परिस्थिति के कारण ही उनमें यह दुर्गुण आया, हम ऐसा क्यों नहीं समझें ? और जरा यह भी क्यों नही सोचें कि उनमें दुर्गुण के प्रवेश कराने में हमारा भी कुछ हाथ है या नही ? उस होटल के टेबुल पर जो लोग बैठे थे, उनके या उनके ऐसे दूसरे लोगों के साथ हमारा क्या व्यवहार रहा है—क्या यह हमारे लिए सोचने की बात नही है ? और इनमें

से जो लोग आचार्यपीठें कायम करके या कराके संसार में अपने आचार्यत्व की डोंडी बजवाना चाहते है, क्या उनका उत्तरदायित्व साहित्य के सरोवर को गँदला बनाने में कुछ कम है ? मैने दुख के साथ देखा है, इसमें से जो बुजुर्ग हैं, उनका दोष इस सम्बन्ध में कुछ कम नही है ! उनकी आचार्यपीठो ने नये लोगों को पथभ्रष्ट किया है। इन नये लोगों ने भी अपनी पीठों की स्थापना की है, जिनका काम इन सभी आचार्य-पीठो को एक ही सुर में, नई पुश्त को दबाने के नाम पर, गालियाँ देना है। नये लोगों की ये नई आचार्यपीठे नई-नई संस्थाओं के नाम पर खुली है। आजकल जो साहित्यिक सस्थाओं की बाढ आई है, उसकी तह में यह बात भी है—हमें इस पर गौर करना चाहिए।

आज हिन्दी का साहित्याकाश गर्द-गुबार से भर गया है। हिन्दी का आलोचना-साहित्य तो और भी भ्रष्ट है। आलोचना, इतिहास या संग्रह के नाम पर ऐसी-ऐसी पुस्तके निकल रही है, जिनका उद्देश्य होता है, किसी खास आचार्यपीठ को प्रमुखता देना। इन आचार्यपीठों का संगठन भी अद्भुत है। सियार की तरह एक कोने में आवाज उठी और फिर दूसरे कोने तक हुआ-हुआ का शोर मच गया। जो लोग साहित्य की एकान्त साधना करना चाहते हैं या कर रहे हैं, उनकी कही पूछ नही है। भाषा और शैली में नये-नये प्रयोग हो रहे हैं। नाटक, कहानी, शब्दचित्र, उपन्यास में नये प्रयोगों की झलक प्रायः ही दिखाई पड़ती है। कविता में तो प्रयोगों की धूम है। किन्तु इनमें से उन्ही प्रयोगों की पूछ है, जिसके लेखक किसी आचार्यपीठ से सम्बद्ध हैं। जो स्वतन्त्र रूप से कुछ कर रहे हैं, उनकी ओर कोई ध्यान भी नहीं देता। हारकर इनमें से कुछ स्वतन्त्र-चेता भी उन आचार्यपीठों में से किसी में सम्मिलित होने को बाध्य हो जाते हैं। किन्तु मौत तो उनकी है, जो अपना सिर नहीं झुकाना चाहते। उनका नामलेवा कोई नही। यदि अनिवार्यतः उनका नाम लेना ही पड़ा, तो इस तरह से लिया जाता है मानो लेने-वाले के गले पर सात मन की चक्की रखी गई हो। यों, ये पीठें हिन्दी साहित्य के विकास को रोके हुई हैं, अरे, गला घोट रही हैं। इन्हीं की प्रतिक्रिया है निन्दकों का एक भारी दल ! हम मूल बीमारी का इलाज

करें, उसके प्रकट लक्षणों का ही नहीं। अतः मुझे तो यही सबसे पहला आवश्यक कार्य लगता है कि सबसे पहले इन आचार्यपीठों को तोड़ दिया जाय।

किन्तु प्रश्न यह है कि इस काम को करे कौन ? क्या आचार्यपीठों के महंतों से यह आशा की जाय ? आशा तो की ही जानी चाहिए। मैं उनसे कहूँगा—श्रीमन्, बहुत हो चुका, अब अपनी माया समेटिये। आपका व्यक्तित्व इससे बढ़ता हो, किन्तु इससे आपके साहित्य की अपार हानि हो रही है। और, क्या सचमुच आपका व्यक्तित्व इससे बढ़ा है ? नही, नही—यह मूढ धारणा है। वालू का भीत गिरकर रहेगा, गिर रहा है; आप नही देख पाते, तो इसका क्या किया जाय ? किन्तु, यदि उन्होंने ध्यान नही दिया, तो मै अपने नये सहकर्मियों से कहूँगा, मित्रो, व्यक्तिगत निन्दा छोड़ो और सब कोई मिलकर इन आचार्यपीठों को नीव सहित ध्वस्त कर दो। यह तुम्हारे पौरुष का तकाजा है। ऐसा करके तुम माँ-हिन्दी की बहुत बड़ी सेवा करोगे। इस ध्वंस-कार्य में ही भावी निर्माण छिपा है। अतः इस कार्य-द्वारा साहित्य-सृजन के अवरुद्ध मार्ग को उन्मुक्त कर तुम शतशः स्वतन्त्र प्रतिभाओं को प्रकाश में लाने का पुण्य प्राप्त करोगे। यह पुण्य कार्य है, उसी में भिड़ जाओ ! निन्दा से तो अपनी ही हानि होती है !

१२

राष्ट्र-भाषा बनाम राज्य-भाषा

देश के सभी शुभैषियों ने चेष्टा की थी, हिन्दी राष्ट्र-भाषा के पद पर आसीन हो। सभी लोक-नायकों की यह चेष्टा रही। साहित्यिक और धार्मिक नेताओं की भी ऐसी ही चेष्टा रही। गांधीजी ने दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार के काम की शुरूआत करके इस काम में अभूतपूर्व प्रगति ला दी। जब भारत स्वतन्त्र हुआ, स्वभावतः ही यह मान लिया गया, हिन्दी को राष्ट्र-भाषा का पद स्वतः ही प्राप्त हो जायगा। किन्तु जब विधान-परिषद् में यह प्रश्न आया, एक विचित्र स्थिति देखी गई। सारा दक्षिण इसके विरोध में खड़ा हुआ और बंगाल, महाराष्ट्र आदि की ओर से भी विरोध की आवाजें सुनाई पड़ने लगीं। बहुत-बहुत मुश्किल से अँगरेजी अंकों के संशोधन को स्वीकार करके और पन्द्रह वर्ष की अवधि की पाबन्दी लगा करके हिन्दी को भारतीय गणराज्य की राज्य-भाषा के रूप में स्वीकार किया गया। शासन तो राज्य-भाषा के रूप में ही स्वीकार कर सकता था, किन्तु यह बात उस समय भी खटकी थी कि इसे राष्ट्र-भाषा का पद क्यों नहीं दिया गया। क्या राष्ट्र-भाषा और राज्य-भाषा में कोई अन्तर नही? उस समय ऐसा ही लगता था कि इस प्रश्न में कोई तथ्य नहीं हैं। राष्ट्र-भाषा नहीं हुई, राज्य-भाषा तो हुई, चलो बात खत्म हुई। लेकिन, ज्यों-ज्यों समय बीतता जा रहा है, यह स्पष्ट हो रहा है, कानूनदाँ लोगों ने एक तिकड़म की चाल चली थी। हिन्दी को वह नही प्राप्त हुआ, जिसकी वह हकदार थी।

भारतीय विधान में हिन्दी को राज्य-भाषा के रूप स्वीकार करनेवाले अक्षरों की रोशनाई भी नहीं सूखी थी कि एक पुकार उठी—हिन्दी का साम्राज्यवाद दक्षिण पर लादा जा रहा है! साम्राज्यवाद—इसके

खिलाफ सारे भारत ने लड़ाई छेड़ी थी, वह साम्राज्यवाद की चर्चा शुरू हुई। बात क्या है ? साम्राज्यवाद से लड़ने में हिन्दी के क्षेत्रों ने कुछ कम नहीं किया था, यह तो स्वीकार किया ही जाना चाहिए कि गांधीजी द्वारा आयोजित इस साम्राज्यवाद-विरोधी युद्ध में हिन्दी क्षेत्रों की ही अग्रगण्यता रही। जो लोग कल तक साम्राज्यवाद से घनघोर युद्ध करते रहे, एक ही रात में उनकी मति ऐसी बिगडी कि वे ही अब अपना साम्राज्यवाद, भाषा के रूप में, दूसरों पर लादने चले ! इन बेचारों पर तो काठ मार गया ; उस पुकार ने एक जबर्दस्त नारे का रूप धारण किया, जिस नारे पर, मद्रास में, सत्याग्रह तक प्रारम्भ कर दिया गया। नेता लोगों ने लोगों को समझाने की कोशिश की ; कुछ दिनो में वह आन्दोलन शान्त भी हो चला। किन्तु, मन का घाव मिटा नही ; रह-रह कर वह नारा जोर पकड़ता है—और, कितने ही रूपों में।

यह तीर-कमान भी साधा जा रहा है कि पन्द्रह वर्षो के बाद कुछ ऐसा तिकड़म किया जाय कि हिन्दी को उस स्थान से अपदस्थ किया जा सके। कुछ लोग यह भी सोचने लगे हैं, हिन्दी के नाम से लोगों को जलन हो रही है, तो इसका नाम ही बदल दिया जाय, इसे हिन्दी नही कहकर, भारती नाम दे दिया जाय। किन्तु, इन सब से घृणित प्रयत्न यह हो रहा है कि चूँकि हिन्दी के बोलने वालों की संख्या सबसे बड़ी है अतः बहुमत की दृष्टि से हिन्दी की राज्य-भाषा की मान्यता आवश्यक हो जाती है, इसलिए कोशिश यह की जाय कि हिन्दी क्षेत्रों की एकता को ही छिन्न-भिन्न कर दिया जाय। स्थानीय बोलियों को प्रोत्साहन देकर बिहार को चार भाषाओ के, उत्तरप्रदेश को सात भाषाओं के, मध्य-प्रदेश को तीन भाषाओं के क्षेत्रों में यों ही सारे हिन्दी-राज्यों को छोटे-छोटे भाषा-क्षेत्रों में बटवा दिया जाय। सारे हिन्दी-क्षेत्र को मैथिली, मगही, भोजपुरी, बुन्देलखण्डी, अवधी, ब्रजभाषा, छत्तीसगढ़ आदि बोलियों के क्षेत्रों में बाँट दिये जाने पर हिन्दी के लिए स्थान ही कहाँ रह जायगा ? फिर अन्य भाषाएँ अपने को राज्य-भाषा के पद के लिए उम्मीदवार खड़ा करेंगी ; या नहीं तो, अँगरेजी को ही अनन्त काल तक भारत की राज्य-भाषा के पद पर हम बिठाये रख सकेंगे। ऐसे लोगों

को हिन्दी पर अँगरेजी को तरजीह देने में जरा भी हिचक नहीं है।

कोढ़ में खाज पैदा कर दी है, कुछ हिन्दी प्रान्तों की सरकारों ने। इसमें सबसे बड़ी अपराधी है मध्यप्रदेश की सरकार। उसने एक ऐसा कोष तैयार कराया है, जो हिन्दी के मूल में ही कुठाराघात कर रहा है। हम से कहा गया था कि हिन्दी के सारे राजकीय परिभाषित शब्दों का रूप संस्कृत से लेने पर मराठी, गुजराती, दक्षिण के भिन्न-भिन्न भाषाओं, बँगला, उड़िया, आसामी आदि के लोगों के लिए सुविधा होगी! बाबू सम्पूर्णानन्द ने तो सबसे अधिक जोर इसके लिए लगाया था। किन्तु, जब डाक्टर रघुवीर का कोष संस्कृत के आधार पर तैयार हुआ है, तो एक अजीब परिस्थिति पैदा हो गई है। उसका सबसे पहला विरोध हुआ, मध्यप्रदेश के मराठी-भाषियों द्वारा। मराठी भाषा में फारसी-उर्दू के अनेकों शब्द ऐसे घुल-मिल गये हैं कि देखकर आश्चर्य होना है। वहाँ "विज्ञापन" नही है, "जाहिर खबर" है। "मान-हानि का अभियोग" वहाँ "अबनुक्सानीचा मामला" है। पूना में "तिलक-रस्ता" है, "तिलक पथ" नहीं। सावरकर साहब संस्कृत के बड़े हामी हैं, किन्तु उनकी पुस्तक का नाम है—"हिन्दूपाद पादशाही"। महाराष्ट्र के नेता 'पेशवा' कहलाते थे। मध्य-प्रदेश के मराठी-भाषियों का विरोध महाराष्ट्र पहुँचा और यह रघुवीरी कोप अब हिन्दी-साम्राज्यवाद की प्रमाण-पुस्तिका के रूप में पेश किया जा रहा है। बात यहाँ तक बढ़ी कि डाक्टर रघुवीर को मध्य-प्रदेश के सेक्रेटेरियट से अपना बोरिया-बिस्तर सम्हालना पड़ा! किन्तु, बाबाजी तो गये, अपनी लँगोटी छोड़ गये। जब दूसरे हिन्दी प्रान्तों की सरकारों ने अपने-अपने यहाँ के सरकारी कामकाज को हिन्दी में करने का निश्चय किया और इसके लिए हिन्दी-अनुवाद-विभाग की स्थापना की, तो यह रघुवीरी कोष ही उनका बाइबिल बन गया। कोई अँगरेजी शब्द आया, झट उस कोष को खोल लिया गया और "मक्षिका स्थाने मक्षिका" रख दिया गया। क्यों न हो, इन अनुवाद-विभागों में प्रायः ऐसे ही लोग तो भरती किये गये, जिन्हें हिन्दी भाषा का कोई शऊर नहीं। हिन्दी में एम० ए० कर लिया था, संस्कृत का अधकचरा ज्ञान था, सरकारी दफ्तरों में पहुँचने का तिकड़म मालूम था,

बस, वहाँ तक पहुँच गये और अब अपने अगाध भाषा-ज्ञान को करोड़ों लोगों के सिर पर थोप रहे हैं।

यों, देखिये, तो हिन्दी के लिए राज्य-भाषा होना उनका अभिशाप हो रहा है। जो लोग कल तक उसे राष्ट्र-भाषा के रूप में स्वीकार कर चुके थे, वे भी अब उसे साम्राज्यवादी भाषा कहकर उससे अपना पिंड छुड़ाने के लिए सब तरह के बुरे-भले प्रयत्न कर रहे हैं। यही नहीं, राज्य-भाषा के रूप में एक ऐसी हिन्दी गढ़ी जा रही है, कि साधारण जनता की क्या बात, हिन्दी के विद्वानों के लिए भी नये-नये स्कूल खोलने पड़ेंगे। हिन्दी में सरकारी कामकाज हो, इसलिए यह माँग की जाती थी कि हिन्दी में काम होने से सबके लिए उसका समझना, अपना काम भी आप ही कर लेना, आसान होगा। किन्तु बात उल्टी हो रही है। अब इस सरकारी हिन्दी को समझने के लिए फिर से हिन्दी का पढ़ना लाजिमी हो गया है। सरकारी गजट की भाषा देखिये, गजट लेकर वे लोग दूसरों से मानी पूछते फिरते हैं, जिनकी मातृभाषा हिन्दी है। जो मिनिस्टर सरकारी अनुवाद-विभाग द्वारा तैयार किया गया भाषण पढ़ता या पत्रों का उत्तर देता है, वह बेचारा भी नहीं समझ पाता है कि वह क्या बोल रहा है ? इसके समर्थन में बड़ा अनोखा तर्क दिया जाता है— शैली और कीट्स की भाषा में राजनीति तो नहीं बोली जा सकती ? अरे भई, शैली और कीट्स की भाषा नहीं हो, तो चर्चिल और एटली की भाषा भी तो हो। मान लिया, तुम्हें तुलसी या मैथिलीशरण की भाषा से दुश्मनी हो, तो फिर नेहरू या राजेन्द्रप्रसाद की भाषा ही हमें दो ! यह कौनसी भाषा तुम गढ़ रहे हो ?

हिन्दी राष्ट्र-भाषा इसलिए स्वीकार कर ली गई थी, क्योंकि वह भारत के सबसे बड़े प्रभावशाली क्षेत्र की जन-भाषा थी और उससे भी बढ़कर वह साधुभाषा थी। राज्य-भाषा होते ही उससे यह दोनों स्थान छीने जा रहे हैं। एक ऐसी भाषा गढ़ी जा रही है कि जिसे हिन्दी-भाषी जनता भी नहीं समझ सके। आज हिन्दी-भाषी जनता, कुछ षड्यंत्रियों के कुचक्रों में पड़ कर जो क्षेत्रीय भाषाओं के नारे लगा रही है, उसमें हिन्दी का यह वर्तमान रूप में सहायक बन रहा है ! जो नये पारिभाषिक

शब्द बनाने हों, उसका आधार संस्कृत हो, इसे कौन नहीं स्वीकार करेगा। किन्तु आज तो साधारण जनों में बहुप्रचलित शब्दों को भी विदेशी कहकर हटाया जा रहा है। नतीजा यह है कि हिन्दी भाषा दिन-दिन जनता से दूर की जा रही है ! और जो भाषा जनता से दूर हुई, क्या वह राज्य-भाषा बनकर भी जी सकती है ?

जो लोग हिन्दी का राज्य-भाषा बन जाने पर आनन्द मना रहे हैं, उन्हें समझना होगा कि राज्य-भाषा बनना किसी भाषा के लिए वरदान ही नहीं, अभिशाप भी बन सकता है ? एक दिन सस्कृत भी राज्य-भाषा थी ? किन्तु उसकी क्या दुर्गत हुई ? मुसलमान शासकों ने फारसी-उर्दू को और अँगरेज़ी शासकों ने अँगरेज़ी को राज्य-भाषा बनाई थी न ? आज उसकी भी क्या दशा है ?

साधु अपने सन्देश के प्रचार के लिए सदा जनभाषा को अपनाते रहे हैं। संस्कृत को छोड़कर बुद्ध ने पाली को अपनाया। नानक, कबीर, तुलसी, मीरा सबने जनभाषा को अपनाया। दयानन्द, रामतीर्थ की भी यही प्रेरणा थी। हिन्दी को यह सौभाग्य रहा कि जिन्हें अखिल भारतीय धरातल पर कुछ कहना हुआ, उन्होंने हिन्दी को अपनाया। गांधी ने हिन्दी को इसी उद्देश्य से अपनाया था। इसलिए गांधीजी सदा जोर देते रहे कि हिन्दी को सरल बनाओ, सुगम बनाओ, सुबोध बनाओ। संक्षेप में उसके जनभाषा साधुभाषा के रूप को ही विकसित करो। किन्तु, आज हम उसे कुछ पंडितों की भाषा, कुछ शासकों की भाषा बनाने पर तुले हैं। क्या इस रूप में हिन्दी जीवित रह सकेगी ? वाल्मीकि और व्यास की भाषा जब जनता से दूर होकर जी नहीं सकी, तो फिर हमारी-आपकी भाषा क्या खाक जिन्दा रह सकेगी।

१३

कला और साहित्य : तीन मनीषियों की दृष्टि में

१—रोम्याँ रोलाँ

—वही कला महान् है, जो सीधे-सादे लोगों को भी अनुप्राणित करती है।

—कोई महान् कलाकार क्यों एक मुट्ठी सुशिक्षित-दीक्षित लोगों के लिए दुख झेले, सपने देखे और निर्माण करे?

—बीठोवन के संगीत की एक कड़ी आधे दर्जन सामाजिक सुधारों से भी अधिक कीमती है।

—सच्चे कलाकार के लिए कला का जीवन उसके अहंकार की तृप्ति या ऐहिक आनन्द की प्राप्ति के लिए ही नहीं होता और न उसका पथ गुलाब की पंखुड़ियों से बिछा रहता है।

—मेरे जीवन ने मुझे सिखाया है कि कलाकार का सबसे पहला और सबसे बड़ा कर्त्तव्य है अपनी अन्तरात्मा की पुकार के प्रति ईमानदार होना। उसे सदा जाग्रत रहना है। उसे अपनी अन्तर्भावना की वेदी पर सदा दीपक जलाते रहना है और जब अन्त-प्रेरणा उसे विवश करे, तब उसे अवश्य ही निर्माण के कार्य में लग जाना है। यदि इससे समय बचा सके, तभी वह उस फालतू समय को समाज की भलाई के अन्य कामों में लगावे।

—सच्ची कला अर्धशिक्षितों को छोड़ कर और सभी को अनुप्राणित करती है। इसका मतलब यह है कि वह अशिक्षित और शिक्षित दोनों को समान भाव से आनन्द देती है। सिर्फ अर्धशिक्षितों को छोड़ देना है, यानी उन लोगों को, जो यह समझते हैं कि कला का निर्माण सिर्फ उन्हीं के लिए किया जाता है। आधुनिक शिक्षा की मशीन में कुचलकर

उनका हृदय वह ताजगी खो चुका होता है, जो कला को ग्रहण करने की क्षमता देती है। यों वे बेचारे कला से प्रेरणा पाने की क्षमता से अनजाने ही वंचित हो जाते हैं।

—साधारण मनुष्य की भावना-शक्ति उम्र के साथ ही क्षीण होने लगती है। किन्तु महान् कलाकार अपनी स्वाभाविक ताजगी को कभी नहीं खोता, बुढापे में भी उसकी भावना प्रवणशील और प्रजननशील बनी रहती है।

—सच्चा सौन्दर्य हमें सदा विशुद्ध करता और पवित्र बनाता है।

—हमारा काम है देते जाना, बोते जाना—और बातें हमपर निर्भर नही करतीं!

—हमारी कृतियों को लोग पसन्द करेगे या नही, इस चिन्ता में दुबले होने की बात नही है। जो तुम्हे देना है, देते जाओ, दोनों हाथों से उलीचते जाओ। तुम्हारी रचना में कुछ मूल्यवान है, तो वह अपना काम करके रहेगी, वह व्यर्थ जा नही सकती।

—ज्योंही कलाकार कोई रचना कर लेता है, उससे उसकी रुचि हट जाती है और वह तुरंत नई रचना में तल्लीन हो जाता है।

—प्रतिभा के विकास के लिए आवश्यक है कि वह कष्ट, एकान्त, चिन्ता और साधारण भ्रान्तियों की अग्नि-परीक्षा में पहले सफल हो ले।

—यदि कलाकार को अपनी रचनात्मक प्रतिभा पर विश्वास न हो, वह उसके आनन्द में अनुभूत न हो, तो फिर वह साँस न ले सके, जीते-जी मुर्दा हो जाय। उसे अपनी साँस के लिए स्वयं वायु-मण्डल तैयार करना है। इसके लिए उत्कृष्टतम शौर्य चाहिए, सिंह का हृदय!

—थोड़े-से गिने-चुने लोग अपने जमाने से सदियों आगे होते हैं, वे जनता को पहचानते हैं, उससे प्रेम भी करते हैं। किन्तु जनता उन्हें सही रूप में नहीं पहचान सकती। कभी तो वह उनके सही रूप की हँसी उड़ायेगी और उन्हें फाँसी पर चढ़ायेगी या उनको नही समझकर उन्हें देवता बना देगी और उनका जय-जयकार करेगी।

२—महात्मा गांधी

—मै साधुता को सब कलाओं से उत्तम कला समझता हूँ। कला क्या है सादगी में सौन्दर्य। और साधुता क्या है? बनावटीपन और असत्य धारणाओं से ऊपर उठकर अपने जीवन में सरल सौन्दर्य की उच्चतम अवतारणा करना। सच्चा साधु कला की आराधना ही नही करता, बल्कि उसे जीवन में उतारता है।

—आजकल जिसे कला कहा जाता है, उसमें मै कोई तत्त्व नही पाता। मै उसे कला मान नही सकता, जिसके समझने के लिए उसकी बारीकी का जटिल ज्ञान चाहिए। मेरी समझ में कला को महान् होने के लिए, प्रकृति के सौन्दर्य की तरह, उसमें सबके हृदय में भावना जाग्रत करने की शक्ति होनी चाहिए।

—कला से आनन्द प्राप्त करने के लिए उसके बाल की खाल उधेड़ने वाले भेद-प्रभेदों का ज्ञान आवश्यक नही। प्रकृति की वाणी की तरह उसके रूप और गुण में सरलता ही सरलता चाहिए।

—जो लोग अपनी दीवालों पर चित्र लटकाकर प्रेरणा प्राप्त करते है, मुझे उनसे झगड़ा नही है, किन्तु मै उसकी आवश्यकता नही अनुभव करता। मेरे लिए तारा-खचित आकाश की सौन्दर्य-राशि ही काफी है जिसे देखते हुए मै कभी नही थकता। मेरे सौन्दर्य की पिपासा शान्त करने के लिए जंगल और समर, नदी और पहाड़, खेत और घाटी ही बहुत है। मै पूछता हूँ जगमग आकाश, विशाल सागर और उदार पर्वत से भी अधिक प्रेरणा कोई चित्र दे सकता है? क्या किसी चित्रकार की तूलिका ऊषा के सिन्दूर और संध्या की स्वर्णिमा से भी अधिक रंगीनी चित्रित कर सकती है? नही, नहीं—मेरे लिए प्रकृति ही सबसे अधिक प्रेरणा देने वाली है। उसने मुझे कभी धोखा नही दिया है—उसने मुझे चकित किया है, रहस्य-जाल से आवृत्त किया है, आनन्द से ओत-प्रोत बनाया है। उसके निकट मानव हाथ की कृति बच्चों का खिलवाड़ है।

—सभी कलाओं को एक जगह रखो, तब भी जीवन उससे महान् है। शीशे के घर में पलने वाले तुम्हारी कला के ये पौधे क्या हैं, यदि

इनमें जीवन की आत्मा नही हो, इनकी पृष्ठ-भूमि में स्थिर उच्च जीवन नही हो ? तुम लम्बी-चौडी बातें कर लो, किन्तु वह कला किस काम की जो जीवन को उन्नत करने के बदले उसे बौना बनाये, उसका विकास रोक दे ? क्या तुम्हारे बहुत से कलाकारों का यह ढाँचा बेढंगा नही लगता है कि कला सृष्टि का मुकुट है, जीवन का अन्तिम अर्थ है ।

—कला जीवन से भी महान् है—क्या कहना है ? जैसे कि आदमी नारों पर ही जीया करता है ? जैसे कि आत्मा को एक ही आनन्द की खुराक पर जिन्दा रखा जा सकता है ? जब कला के नाम पर इस तरह की भ्रान्तियाँ फैलाई जाती है, तब मै कहने को मजबूर हो जाता हूँ—ठहरो ! मै सबसे बड़ा कलाकार उनको मानता हूँ जो पवित्रतम जीवन व्यतीत करता है ! मै कला की निन्दा नही करता, बल्कि ऐसी बढ़ी-चढ़ी बातों का खण्डन करता हूँ !

३—बरट्रण्ड रसल

—मेरा विश्वास है कि कला की सर्वोत्तम-कृतियों के लिए काम-वासना की अतृप्ति अति आवश्यक है । मै इसका कायल हूँ कि महान् कलाकारों को चाहिएँ कि वे अपनी काम-शक्ति को ऊर्ध्वगामी करें, तभी वे सुन्दर कलाकृति का सृजन कर सकेंगे । लेकिन इसमें भी "अति" से सदा बचना चाहिए—क्योंकि काम बदला लेने से भी नही चूकता !

—कामवासना पर अति अंकुश रखना जीवन के हर पहलू पर बुरा असर डालता है और उसका असर कला पर भी अच्छा नही होता ।

—कलाकार मुझे उसे मोर की तरह लगता है जो मयूरी को रिझाने के लिए अपने खूबसूरत पंखों को पसारकर नाचता है ! यदि मयूरी उससे कुछ मान-मनौवल नही कराये, तो फिर संसार को मोर का नृत्य पाने का सौभाग्य नही हो ।

—सच्चा आनन्द उसी को मिलता है जो उसके लिए पागल नही है, बल्कि जिसे चीजों से उन्ही के लिए प्रेम है । इसका अर्थ यह है कि यदि हम चीजों को इसलिए प्रेम करें कि उनसे हमें आनन्द प्राप्त होगा, तो सच जानिये आनन्द हमारे लिए मृग-जल ही बना रहेगा ।

प्रश्न—आपका अधिकांश समय लिखने में ही बीतता है ?

उत्तर—स्वभावतः ही। सच बात यह है कि लिखने के लिए एकांत की खोज में मैं देहात में भाग जाता हूँ।

प्रश्न—लगता है आप बहुत तेजी से लिखते हैं—क्या आपको उन्हें सुधारना भी पड़ता है।

उत्तर—नहीं। मै एक सुर में लिखता जाता हूँ और उन्हें सीधे प्रैस में भेज देता हूँ।

प्रश्न—आपकी शैली मुझे वहुत पसन्द है—खासकर शब्दों की किफायतसारी और संयम। क्या इस कला का आपने अभ्यास किया था ?

उत्तर—हाँ। बचपन में मै विभिन्न विचारों को कम-से-कम शब्दों में लिखने का खिलवाड़ किया करता था। बचपन के इस दिलबहलाव से मुझे बहुत लाभ हुआ।

—विदेशी संस्कृति किसी देश पर संगीनों के जोर से ही लादी जा सकती है।

—बर्नार्ड शॉ : ओह, वह बेजोड़ है। दुनिया में ऐसे कम लोग हैं जिन्हें प्रसिद्धि या प्रभाव ने बर्बाद नहीं किया हो। शॉ उनमें एक हैं। उसे अपनी कीर्ति तक की परवाह नहीं है—ऐसा सच्चा, ऐसा निर्भीक, खिल्ली उड़ाने में ऐसा वहशी। उसके संसर्ग में ताज़गी है !

१४

साहित्यिकों की स्मृति-रक्षा !

जब पिछली बार पेरिस में था, एक दिन भोर के जलपान के बाद बाहर निकला, तो हर चौराहे के सरकारी नोटिस-बोर्ड पर एक शानदार नोटिस चिपका हुआ पाया—उसमें उल्लेख था, विक्टर ह्यूगो की डेढ़-सौवी वर्षगाँठ के उपलक्ष्य में एक पक्ष मनाया जा रहा है, उसमें फ्रांस के राष्ट्रपति और प्रधान मन्त्री भाग लेंगे; जहाँ ह्यूगो की कब्र है, उस पैन्थियन पर दीप-मालिका सजाई जायगी और पन्द्रह दिनों तक लगातार ह्यूगो और उसकी कृतियों पर भिन्न-भिन्न रूप में प्रकाश डाले जायँगे—संगीत सभाएँ होंगी, नाटक होंगे, प्रदर्शनियाँ होंगी, आदि-आदि।

हाँ, यह नोटिस सरकारी नोटिस-बोर्ड पर चिपकाई हुई थी। वहाँ, पेरिस में, हर चौराहे के कोने पर एक नोटिस बोर्ड होता है, जिस पर सिर्फ सरकारी नोटिस ही चिपकाई जा सकती हैं। इसका मतलब यह था कि ह्यूगो की वर्षगाँठ का यह आयोजन सरकार की ओर से, उसकी संरक्षता में, हो रहा था।

उसी दिन भागा-भागा मैं पैन्थिन पहुँचा—वह विशाल इमारत, जो पेरिस के त्राता संत जीनोइव की स्मृति में तैयार की गई थी, इतनी ऊँची, इतनी लम्बी-चौड़ी कि जब पृथ्वी की गति-सम्बन्धी जाँच-पड़ताल की बात हुई तो उसी में एक डोर लटकाकर यह सिद्ध किया गया कि पृथ्वी चलती है !

जब फ्रांस की क्रान्ति हुई, तो इस धर्म-मन्दिर को फ्रांस के महान् पुरुषों के समाधि-मन्दिर के रूप में परिणत कर दिया गया। सारी पेरिस में आप कला और क्रान्ति को गलबहियाँ देकर चलते हुए-से पायँगे। इस मन्दिर की भी यही हालत है। सुन्दरतम मूर्तियाँ, मनोरम तस्वीरें। एक

ओर संतों की तस्वीरें देखिए, दूसरी ओर क्रान्ति के भिन्न-भिन्न रूपों की तस्वीरें। किन्तु मैं तो सबसे पहले विक्टर ह्यूगो की समाधि देखना चाहता था। समाधियाँ मन्दिर के निचले हिस्से में, तहखाने में है। टन-टन-टन-टन घण्टा बजा और हम उसके बजानेवाले का पीछा करते तह-खाने में पहुँचे।

सबसे पहले, दाहिनी ओर, रूसो की समाधि है और बाईं ओर वाल्टेयर की। हाथ में पुस्तक लिये, खड़े, वाल्टेयर की वह सुप्रसिद्ध मूर्ति वही है, जिसकी प्रतिकृति हम प्रायः पुस्तकों में पाते हैं। फिर गलि-यारे शुरू होते हैं, जिनके दोनों ओर समाधियों का ताँता है। पहले गलियारे में थोड़ा आगे बढ़ने पर ही बाईं ओर विक्टर ह्यूगो का समाधि है। एक-एक कोठरी में प्रायः दो-दो समाधियाँ हैं, ह्यूगो की समाधि की बगल में एमिल जोला की समाधि है। रूसो, वॉल्टेयर और ह्यूगो, जोला-जोड़ियाँ भी कैसी ! मैं एकटक ह्यूगो की समाधि को देख रहा था और कल्पना कर रहा था, इसी समाधि पर आज संध्या को फ्रांस के राष्ट्रपति और प्रधान मन्त्री फूल चढ़ावेंगे और शाम को इस विशाल इमारत पर वह चिरागाँ होगा—जगमग, झलमल ! और, सारी पेरिस उमड़कर जो यहाँ इकट्ठी होगी, उसकी रंगीनी की कल्पना तो और भी भाव-विभोर बना रही थी !

किन्तु, मेरे पास इतना समय कहाँ था कि कल्पना में ही डूबा रहूँ। कितने ही लेखकों, कवियों, कलाकारों, दार्शनिकों, योद्धाओं की समा-धियों को देखता, सिर नवाता, वहाँ से रवाना हुआ।

और, जब दूसरे दिन ह्यूगो के स्मारक-भवन में पहुँचा, तो विस्मय-विमुग्ध हो रहा। यह भवन ह्यूगो का ही है। उसके पोते ने इसे फ्रांस की सरकार को दे दिया। अब सरकार इसका संरक्षण कर रही है। ह्यूगो धनी आदमी था, उसके पिता नेपोलियन की फौज में एक जेनरल थे। तलवार के धनी का बेटा कलम का धनी निकला। किन्तु, विद्रोही—कितने ही वर्षो तक उसे अपने देश से बाहर, बनवास में, रहना पड़ा। और, जब वह लौटा, कला-प्रेमी, क्रान्ति-प्रेमी फ्रांस की, पेरिस की जनता ने उसे सर-आँखों पर लिया। ह्यूगो को प्रारम्भ से ही अपनी महत्ता

का अनुमान था, ज्ञान था। अतः उसने अपनी चीजों को सम्हालकर, खोज कर रखा था और जो चीजें इधर-उधर बिखरी पड़ी थीं, उन्हें इकट्ठा किया उसके पोते ने। जब से सरकार ने इस विपुल संग्रहालय को लिया है, तब से बची-बचाई चीजें भी इकट्ठी कर दी गई हैं।

यह कमरा है, जिसमें ह्यूगो सोता था। पलँग बिछा है, तकिया लगी है। पलँग के ऊपर, दीवार में, वह तस्वीर है, जो उसकी मृत्यु के बाद खीची गई थी। लगता है, इस पलंग से उठकर, वह उस तस्वीर में जा सोया है। वह रात में सोते-सोते उठ बैठता था और लिखने लगता था। अतः, इस घर में एक टेब्रुल, पलँग के पैताने की बाईं ओर है। वह खड़े-खड़े लिखता था, टेब्रुल उसी के अनुसार बनवाया गया था। ह्यू गो ठिगना था, अतः टेब्रुल की ऊँचाई अधिक नहीं। टेब्रुल पर उसकी कलम-दावात अब तक रखी हैं। उसकी वह कलम—इच्छा होती थी, उसे हाथ में लेकर चूम लूँ! किन्तु, चीजों के छूने की मुमानियत जो थी। तो भी जराझुक कर उस टेब्रुल को तो चूम ही लिया। टेब्रुल पर लिखते समय, अपना एक पैर वह टेब्रुल के नीचे लगे काठ के बल्ले पर रखता था, उस पर आज तक घिस्से बने हुए हैं।

इसके बाद कमरे-पर-कमरे! इस कमरे में वह लिखता-पढ़ता था, इस कमरे में उसकी पोशाकें रखी रहती थीं, इस कमरे में उसकी पत्नी रहती थी, इस कमरे में वह मित्रों से मिलता था, आदि आदि। इन कमरों में स्मारक वस्तुओं का खजाना है। उसकी शादी प्रेम की शादी थी, वे सब खत वहाँ संग्रहीत हैं जो शादी के पहले या बाद में लिखे गये थे। तरह-तरह की पोशाकें हैं, एक सैनिक वर्दी भी है और एक तलवार भी, जिसे कमर से लटकाकर वह शान से निकलता था। भिन्न-भिन्न उम्र में उसने अपने बालों के गुच्छे काटकर रख दिये थे, जरा उन गुच्छों को देखिये—सुनहले, भूरे, होते-होते, सन-से-सुफेद!

कमरों के बाद तीन बड़े-बड़े हॉल। उसे चीनी मिट्टी के बरतन इकट्ठा करने का बड़ा शौक़ था। तरह-तरह की तस्तरियाँ, रकाबियाँ, प्याले, सुराहियाँ। एक पूरा हॉल उन्ही से भरा पड़ा है। एक हॉल की अलमारियों में उसके सभी ग्रन्थों की हस्तलिपियाँ हैं। उन्हें देखने से

लगता है, वह बहुत तेज लिखता था, अक्षर फीके-फीके हैं, जगह-जगह काट-कूट करने से भी वह नही चूकता था।

कहाँ तक वर्णन किया जाय, कितना वर्णन किया जाय।

स्वर्गीय भाई मेहरअली ने एक बार कहा था, जब पेरिस जाना तो उस श्मशान-भूमि में अवश्य जाना, वहाँ मौलियर की समाधि है। यह श्मशान-भूमि—पैरीलेचिस ! पेरिस को इस बात का अभिमान है कि जितने बड़े लोग इस श्मशानभूमि में दफनाये गये है, संसार की किसी भी श्मशान-भूमि को वह सौभाग्य नहीं मिल पाया है। यहाँ पहुँचते ही दिमाग खबत हो उठता है—कितना देखा जाय, कैसे देखा जाय। तरह-तरह के आकार-प्रकार की समाधियाँ, कतार-कतार में, आदमी खोजता है, रास्ता पकड़ता है, किन्तु, दिशाये भूल जाती है। तो भी खोज-ढूँढ कर मौलियर की, बालजक की, आस्कर वाइल्ड की समाधियाँ देखी—सारा बर्नहार्त की समाधि की खोज में तो बहुत समय बर्बाद किया। मौलियर की समाधि तम्बूत-नुमा है, जमीन से ऊपर, चार स्तम्भों पर। बालजक की समाधि पर उसकी मूर्ति है, किन्तु विचित्र समाधि है आस्कर वाइल्ड की—उसके ऊपर एक नंग-धडंग व्यक्ति की खुरदरी आकृति लिटाई हुई है।

किन्तु, मौलियर की असल स्मारक तो है कोमोदिये फ्रांसिस। गुण-ग्राहक सम्राट् लुई चौदहवाँ मौलियर को अपने राजभवन में बुला लाया और उसी के एक अंश को नाटक-भवन में परिणित कर दिया। लुई के खान्दान का नामनिशान भी नहीं है, वह राजभवन भी ध्वस्त-पस्त हो चुका है, किन्तु, राजभवन का वह भाग आज भी गुलजार है। जब मै वहाँ पहुँचा, मैटिनी शो चल रहा था। झटपट टिकट कटाया, भीतर हाजिर हुआ। यह नाटक-भवन ही नहीं है, यह एक उत्तम संग्रहालय भी है। मौलियर की सारी रचनाओं की प्रतिलिपियाँ तो हैं ही, वह शोफा भी रखा हुआ है, जिस पर बैठकर वह अंतिम बार अभिनय कर रहा था। मौलियर उन दिनों बीमार रहता था, किन्तु उसका अभिनय देखने के लिए लोगों में बड़ी बेचैनी थी। अतः उसने एक ऐसा नाटक लिखा, जिसका नायक बीमार हो। इसी बीमार नायक का पार्ट करते-करते

कलाकार भूल गया कि वह बीमार है। इतने जोश से वह अभिनय करने लगा कि वह मूर्च्छित हो गया। लोगों ने समझा, यह भी अभिनय ही है; किन्तु यह तो उसके जीवन-अभिनय का अन्तिम पटाक्षेप था!

यह तो बड़े-बड़े लोगों की बातें हुई, फ्रांस का कोई भी ऐसा उल्लेखनीय साहित्यकार नहीं, जिसकी स्मृति में कुछ-न-कुछ नहीं किया गया हो। किसी के नाम पर संग्रहालय है, किसी के नाम पर साहित्यिक संस्था है, किसी के नाम पर सडक है। प्रायः उनकी मूर्तियाँ भी बनी हैं, तस्वीरों की क्या चर्चा।

इंगलैंड साहूकारों का देश माना जाता है। नैपोलियन ही उसे घृणा की दृष्टि से नहीं देखता था, बर्नार्ड शॉ ने उस पर व्यंग्य के ऐसे तीर चलाये हैं कि कोई भी तिलमिला उठे। किन्तु, साहूकारों का यह देश भी जानता है कि अपने साहित्यिकों की स्मृति-रक्षा, रुपये-पैसे की आमदनी की दृष्टि से भी, कितनी महत्त्वपूर्ण है। जब आज से सौ वर्ष पहले स्ट्रैफोर्ड ऑन एवन में शेक्सपीयर का स्मारक बनाने की बात चली, तो लंदन के पत्रों ने सख्त विरोध किया था। किन्तु, अब उन्हें मालूम होता होगा, देश के मध्यभाग में, घोर देहात के उस छोटे से गाँव में, जहाँ से रेलवे लाइन आज भी सोलह मील दूर है, शेक्सपीयर का स्मारक बनाकर कितनी बुद्धिमानी का काम किया गया। मै वहाँ चार दिनों तक रहा, उसका एक-एक होटल विदेशियों से खचाखच भरा था और उसके नाट्य-भवन में, शेक्सपीयर के नाटकों को देखने के लिए आने वाले दर्शकों की भीड़ पाँच-छः महीने तक एसी बनी रहती है कि उसके लिए टिकट का जोगाड़ दो-दो तीन-तीन महीने पहले से कर लेना होता है!

इस गाँव को ऐसा बना दिया गया है कि लगता है, उसके जर्रे-जर्रे में शेक्सपीयर रम रहा हो! जहाँ उसने जन्म लिया, जहाँ पढ़ा, जहाँ अपने से पाँच वर्ष बड़ी लड़की से प्रेम किया, जहाँ वह धन और यश पाकर शान से रहा और जहाँ उसे दफन किया गया, एक-एक स्थान को इस तरह सुरक्षित रखा गया है कि देखते आँखें नही अघातीं!

इंगलैंड के साहित्यिकों की स्मृति-रक्षा में छोटी-छोटी बातों पर ऐसा ध्यान रखा गया है कि देखकर आश्चर्य होता है। शेक्सपीयर ने अपने

हाथ से मलबेरी का जो पेड़ रोपा, उसके पोते को आजतक—चार सौ वर्षों के बाद भी—जिला कर रखा गया है और कीट्स ने जिस पेड़ पर बैठी बुलबुल की आवाज सुनकर "ओड टू नाइटेंगिल" लिखा, वह पेड़ गिर रहा है; तो भी भरसाये से उसे गिरने और नष्ट होने से बचाया जा रहा है।

यूरोप में कला और साहित्य का सन्देश तो इटली से गया। इटली भारत की ही तरह, अनेक प्राचीन गरिमा रखती हुई भी, एक गरीब मुल्क है। उसकी अच्छी-से-अच्छी कलाकृतियाँ यूरोप के संग्रहालयों और चित्रागारों को सुशोभित करती हैं; तो भी जो चीजें भी अपने घर में रख पाई हैं, उसके सॅजो और सम्हाल से वह कभी बेखबर नही रही। जब मैं फ्लोरेंस पहुँचा, उसके कला और साहित्य-सम्बन्धी वैभव को देख कर मुग्ध हो गया। एक ही साथ जो शहर माइकेल एँजेलो, लियानार्दो विची, राफेल, दाँते, बुक्कासियो, गैलेलियो, मैकियावेली की जन्मभूमि या लीला-भूमि रहा हो, उसकी महिमा का क्या कहना ? मैने दाँते का वह छोटा-सा घर देखा, जिसे छः सौ वर्षों के बाद भी सुरक्षित रखा गया है—जिसमें उन दिनों एक कला-प्रदर्शनी सजाई गई थी। फ्लोरेंस का पैन्थियन देखा, जिसकी अँगनाई में एक ऊँचे स्तम्भ पर दाँते की शानदार मूर्ति है, राजकीय संग्रहालय में वे कागजात देखे, जिनका सम्बन्ध दांते के जीवन से है। दाँते पर जो वारंट निकाला, दाँते पर जो मुकद्दमा चला, दाँते को जो बनवास की सजा मिली, दाॅते की मृत्यु के बाद उसकी हड्डी को फ्लोरेंस में लाने के लिए नागरिकों ने जो दरखास्त दी—सब कागजात वहाँ सुरक्षित हैं !

रोम तो स्मृति-चिह्नों का नगर ही है। जिधर निकल जाइये, सम्राटों, धर्मगुरुओं, कलाकारों की स्मृति में बने प्रासादों, मन्दिरों और स्मारकों की भरमार पायेंगे। रोम रोमनों का सम्मान करे, यह तो स्वाभाविक है ही। किन्तु, कितने ही विदेशी साहित्यकारों और कलाकारों के स्मृति-चिह्न भी वहाँ सुरक्षित हैं। मुझे सबसे उत्सुकता थी कीट्स और शैली की समाधियाँ देखने के लिए। अँगरेज़ी के ये दो अमर कवि—अपने देश से दूर, यहाँ शान्ति और स्वास्थ्य की खोज में आये

और यहीं, चिर शान्ति पा गये। कीट्स की समाधि पर उसी ने अपने लिए जो पहले से एक पंक्ति चुन रखी थी, वह लिखी है—हेयर लाइज वन हूज नेम वाज रिटन औन वाटर! यहाँ वह सोया है जिसका नाम पानी पर लिखा गया था! किन्तु, उसके प्रशंसकों ने सिद्ध कर दिया है, कवि की यह निराशामयी पंक्ति उसके लिए लागू नही है।

किन्तु, इस पंक्ति को देखकर मुझे भारतीय साहित्यकारों के दुर्भाग्य का स्मरण अवश्य हो आया—खास कर हिन्दी के साहित्यकारों का। जो हममें सर्वसम्मति से श्रेष्ठ था, उस तुलसी के लिए ही हमने आज तक क्या किया, जो दूसरों के लिए हम सिर धुने। तुलसी का जन्म कहाँ हुआ, उसको लेकर विवाद हो, किन्तु उनकी मृत्यु काशी के अस्सी घाट पर हुई, इसमें तो कोई सन्देह ही नही है। हम वहीं क्यों नहीं उनका एक स्मारक बनावें—ऐसा स्मारक जो भारत की राज्य-भाषा के सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार के गौरव के उपयुक्त हो? यों ही विद्यापति के लिए, सूर के लिए, खुसरो और रहीम के लिए, मीरा के लिए, हरिश्चन्द्र और प्रेमचन्द्र के लिए आज तक हमने क्या किया? कीट्स, तुम छोटी उम्र में मरे, निराशा के वातावरण में मरे, इसलिए तुम समझते रहे, तुम्हारा नाम पानी पर लिखा गया। किन्तु, तुम्हारे गुणग्राहक देश ने तुम्हे वह अमरता दी जिसकी तुम कामना करते रहे! यह तो हम हैं, तुमसे सात समुद्र पार के एक अभागे देश के सरस्वती के सेवक जिनका नाम सचमुच पानी पर लिखा गया या लिखा जा रहा है—आह! लिखना शुरू न किया मिटना शुरू हो गया!

१५

कविता का सम्मान

"भैया, हमने तो तय कर लिया है, जहाँ मिनिस्टरों को बुलाया जायगा, हम उन कवि सम्मेलनों में नहीं जायँगे !" हमारे एक भावुक छोटे कवि भाई ने कहा !

उसने बताया, किस तरह अपने डब्बे में बुलाकर रास्ते-भर इस कवि से मिनिस्टर साहब कविताएँ गवाते रहे, दाद भी दिये, रास्ते में, एकाध-बार, चाय भी पिलवा दी। किन्तु ज्योंही उतरने वाला स्टेशन पहुँचा, सारा दृश्य ही बदल गया ।

कवि बेचारा दौड़ा अपने इन्टर क्लास के डब्बे की ओर—कहीं उस का सामान कोई उच्चका लेकर चलता नही बने। इधर मिनिस्टर साहब की गरदन में तरह-तरह की मालाये पड़ती रही, उनके सिर पर फूलों की वर्षा होती रही। धूमधाम से उन्हें स्टेशन से बाहर किया गया और एक सुसज्जित गाड़ी में बिठाकर उन्हें रेस्ट-हाउस में ले जाया गया। इतने लोगों ने उन्हें अपने घर टिकाने की माँग की थी कि रेस्ट-हाउस में ही टिकाना उचित समझा गया !

जब तक हमारा कवि गट्ठर लेकर स्टेशन से बाहर निकले, मिनि-स्टर साहब की सवारी वहाँ से निकल चुकी थी और सारी सवारियों ने उनका अनुगमन किया था !

कवि इधर-उधर देखता रहा, कोई उसे पूछे ! कनेर की माला भी उसके लिए होगी, यह तो उसने आशा भी छोड़ दी थी।

कोई पुछवैया नही ? और, उसे यह भी नहीं मालूम कि कवियों को टिकाने का स्थान कौन-सा चुना गया है ? उसके पास ७) का मनीआर्डर भेज दिया गया था और लिख दिया गया था, हम स्टेशन पर आपके

स्वागत के लिए उपस्थित रहेंगे ! स्टेशन पर स्वागत के लिए उपस्थित रहने वालों की तो कमी नहीं थी, किन्तु किसके स्वागत के लिए ?

एक बड़ी बाढ़ आई—जल-थल एक हो गये। नालों और तलैयों को कौन पूछे ?

और, कोई सवारी भी तो स्टेशन पर नहीं बच रही है। यह छोटा-सा स्टेशन। यहाँ सवारियाँ ही कितनी। और कौनसा ऐसा अभागा होगा कि आज मिनिस्टर साहब की मोटर के पीछे साइकिल रिक्शा पर भी नहीं जाय !

हमारा कवि व्याकुल है। कुली कह रहा है, बाबू, अपना गट्ठर सम्हालिये, दूसरी ट्रेन आ रही है ! आज ही तो कुछ कमाई का डौल लगा है। मिनिस्टर साहब आये हैं आज बाबुओं की कमी नहीं होगी। कुली ने गट्ठर पटक दिया; कवि ने उसके हाथ में एक दुअन्नी रखी। "आज भी दो ही आने ! मिनिस्टर साहब"......

कवि झल्ला उठता है ! किन्तु कौन राड़ बिसाहे—एक आने और ! वह गट्ठर के सामने खड़ा है—क्या उसे इस गट्ठर को सर पर लेकर चलना होगा ?

कि, एक परिचित ! अरे, आप यहाँ ? क्या पीछे छूट गए ? क्यों छूट गये ? ओ, रिक्शा, रिक्शा ! बदमाश, कहाँ चले गये। तब तक एक बीड़ा पान खाइये। पान—पान वाला ! अरे, ये सब कहाँ खो गये ?

किस्सा कोताह—थोड़ी देर के बाद एक टुटहा इक्का आया। कविजी उस पर चढ़ा दिये गये और पग-पग पर हिचकोले खाते, किसी-किसी तरह एक धर्मशाला पहुँचाये गये, जहाँ कवियों के ठहरने का प्रबन्ध था।

वहाँ क्या खाया, क्या पीया ? इसकी चर्चा फिजूल। जो कसर थी, वह तब पूरी हुई, जब रात में दो बजे तक कवितायें उगलने के बाद, ट्रेन पकड़ने के लिए स्टेशन की ओर चले, तो कविजी का गट्ठर उनके सर पर था ? हाँ, इसकी क्षतिपूर्ति-स्वरूप उनके गले में गेंदे की एक माला थी, जो कविता पढ़ने के पहले उनके गले में डाल दी गई थी !

यह तो हुई एक छोटे कवि की बात। एक बड़े कवि की, महाकवि की बात सुनिए !

हम दोनों एक ऐसे ही जल्से में जा रहे थे। स्वागत के लिए स्टेशन पर अच्छा प्रबन्ध था, मालयें थी, मोटरें थीं। हम सोच रहे थे, लोगों में सुरुचि आ रही है, अब साहित्यकों का भी सम्मान हो रहा है।

कि महाकविजी स्वागत-मन्त्री से बोले, देखो भाई, मुझे इसके बाद की ही ट्रेन पकड़नी है। कोई सवारी का इन्तजाम किए रहना।

सवारी ? सवारी की क्या कमी होगी ?—मैं बीच ही में कह उठा।

महाकविजी ने कहा—अब तक एक हजार एक सौ कवि सम्मेलनों में जा चुका हूँ, कभी ऐसा नहीं हुआ कि लौटते समय सवारी पाने का सौभाग्य हुआ हो।

और, उन्होने बताया, हाल ही हिन्दी के एक महान् आचार्य को किस तरह रात में सर पर गट्ठर लेकर स्टेशन तक आना पड़ा था ! उनका दुर्भाग्य यह था कि उस जल्से में राष्ट्रपति जी पधारे थे और लोगों को उन्ही से फुरसत नही मिली थी !

"नहीं, नहीं, यहाँ ऐसा नहीं होगा। आपसे बढकर यहाँ और कौन है ?"—स्वागत मन्त्री ने कहा !

किन्तु, आश्चर्य !

लौटती बार सचमुच सवारी नही मिली। खैरियत थी, हम लोगों के पास गट्ठर नहीं था और रात चाँदनी थी। महाकविजी अपना सूट-केस झुलाते तेजी से बढ़ रहे थे, मै अपना फोलियो दबाये उनका अनुगमन कर रहा था !

जो थोड़ी देर पहले कविता पर कविता सुनाते जा रहे थे और तालियों की गड़गड़ाहट सुन रहे थे, उनकी जीभ जैसे सी दी गई हो ! गुमसुम चले जा रहे थे।

स्टेशन पर पहुँच कर कहा—कहा था न ; एक हजार, एक सौ, एक, कवि-सम्मेलनों में गया हूँ, कभी लौटती बार सवारी नहीं मिली ! इसी से सम्मेलनों में कभी गट्ठर लेकर नहीं जाता !

थोड़ी देर बाद स्वागत-मंत्री पहुँचे और लगे कैफियत देने—यह झंझट हो गई, वह झंझट हो गई ! आप थोड़ा ठहर गये होते......

अब महाकवि के लिए असह्य हो गया। उन्होंने कहा, अच्छा तो

मुझसे गलती हुई, क्षमा कीजिये ! और जाइये, जो वहाँ अब भी ठहरे हुए हैं, उन बेचारों के लिए कुछ इन्तजाम कर दीजिये !

किन्तु, स्वागत-मंत्री भला हमें कैसे छोड़ते ?

और, उन बेचारों की क्या हालत हुई होगी, जरा कल्पना कीजिये !

संयोग से गाड़ी कुछ लेट थी : छोटे-बड़े सभी कवि अपने गट्ठर आप लिए स्टेशन पर पहुंचने लगे। हम उनसे हाल-चाल पूछने लगे कि पाया स्वागत-मंत्री वहाँ से खिसक चुके है !

यह है कविता का सम्मान, इस स्वंतन्त्र भारत में, जिसके निर्माण में कवियों का हाथ भी कुछ कम नही रहा है।

किन्तु, हम सोच रहे हैं, हमारे कवि और महाकवि कैसे जीव है कि एक हजार एक सौ एक बार ऐसा व्यवहार पाकर भी फिर ऐसे सम्मेलनों में जाते हैं !

किसी तुच्छ पशु-पंछी से भी आप दो-चार-दस बार बुरा व्यवहार कीजिये, वह आपसे फिरण्ट हो जायगा ! और, एक हम मानव नामधारी जीव हैं कि फिर वहीं जाते हैं, जहाँ बार-बार निरादर पाते हैं !

हम में यह कमजोरी कहाँ से आ गई है, क्यों आ गई है !

दुनिया में शायद यही एक देश भारत है, जहाँ के कवि अपने श्रीमुख से अपनी कविता सुनाने को इतना उत्सुक रहते हैं ; जहाँ बुलाया जाय, वहाँ दौड़े चले जाते हैं ; जब फरमाइश की जाय, कुछ कविता उगल देते हैं !

सामन्तशाही का यह अवशेष-चिह्न हमारे यहाँ अब तक कायम है।

पहले दरबार थे। दरबारों में गवैये-बजवैये रहते थे। नर्तकियाँ रहती थी। कुछ कवि-शायर भी पाल दिये जाते थे !

दरबार के हर उत्सव में गाना-बजाना हुआ, नाच-काछ हुई और टेढ़ी पगड़ी बाँधकर कवियों ने भी कुछ सुना दिया ! शायर की गज़लों ने तो और कमाल किया।

हमारे देश की सामंतशाही का आखिरी दौर मुसलमानी था। जो हिन्दू-सामंत बचे-खुचे थे, उन्होंने भी मुसलमानी दरबारों का ही अनुसरण किया।

दरबारों में सभी शायरों के लिए गुञ्जायश कहाँ थी ? अतः मुशायरे का चलन हुआ। हर उस्ताद ने एक अपना खानगी दरबार बनाया। ये मुशायरे खूब लोकप्रिय हुए।

जब हिन्दी का जोर हुआ, इन मुशायरों की लोकप्रियता से आकृष्ट हो कवि-सम्मेलनों का आयोजन किया जाने लगा।

मुशायरों के केन्द्र-विन्दु उस्ताद होते थे। उस्तादों के द्वारा काट-छाँट करके ही चीजें मुशायरों में पहुँचती थी। इससे उर्दू को लाभ भी हुआ।

किन्तु, हिन्दी में उस्तादी परम्परा तो रही नहीं। अतः हमारे कवि-सम्मेलन प्रारम्भ से ही चों-चों के मुरब्बा रहे ! जरा चेहरा अच्छा हो, कण्ठ अच्छा हो, वाह वाह करने वालों का एक अपना गुट्ट हो, फिर क्या कहने ?

पिंगल की टाँग तोड़िये, व्याकरण का कचूमर निकालिये, भाषा का सत्यानाश कीजिये—कोई मुजायका नही ; थिरकते जाइये, अलापते जाइये, उछलते जाइये, चिङ्घारते जाइये, तालियों की गड़गड़ाहट पाते जाइये !

कवि-सम्मेलनों ने कवियों की संख्या इतनी बढा दी है कि उस दिन एक कवि-मित्र ने कहा, सड़क पर एक ढेला फेंक दो, वह किसी-न-किसी कवि को ही लगेगा !

अब हर मौके पर कवि-सम्मेलन होगा और हर कवि-सम्मेलन के लिए अधिक-से-अधिक कवि मिल ही जाते हैं।

अति परिचयात् अवज्ञा—अति परिचय से अवज्ञा पैदा होती ही है !

देहात की बरात से लौटते समय जो हालत नर्तकियों की होती है, यही हालत कवि-सम्मेलनों से लौटते समय कवियों की हो रही है।

कुछ कवियों ने अपनी फीस भी बना ली है। फीस जमा कर दीजिये, जहाँ बुलाइये, ये सिर के बल पहुँच जायँगे।

सिक्के का दूसरा पहलू यह है।

उस दिन एक स्वागत-मंत्री ने कहा—जब फीस तय हो गई, तो फिर सम्मान-अपमान की क्या बात ?

कवियों के गले में जो मालायें हम डालते हैं, वह इसलिए नहीं कि हम उनका सम्मान कर रहे हैं, बल्कि मजलिस का तरीका यही रहा है !

यही नहीं, अब एक बात और आने वाली है !

कविताओं पर अठन्नी-चौवन्नी भी बरस कर रहेगी और तब यह तय कर लेना पड़ेगा कि फीस में इस चढ़ौती की रकम को काटा जाय, या नहीं !

वह मखौल कर रहे थे, मैं गड़ा जा रहा था।

क्या वाल्मीकि और व्यास, सूर और तुलसी के वंशधरों का यही हश्र होने वाला था ?

जिन्होंने कहा था—"ऐरे मूढ़ नृप तुम धन दिखलावे काँहि, आसी न तुम्हारे ये निवासी कल्पतरु के !" उन्ही के बाल-बच्चे कुछ रुपल्ली पर अपनी इज्जत बेचने को यों उतारू हो जायँ।

सुनाने की चाट जो हम में लगी, वह हमें सब कुछ सुनने को लाचार कर रही है !

मुशायरों की नकल हमने चलाई, वह हमें लेकर डूबने जा रही है। कागज की नाव से खेलवाड़ बच्चों को ही शोभता है, जो सयाना उस पर चढ़ कर पार करना चाहेगा, उसके डूबने के लिए चुल्लू भर पानी काफ़ी है !

कवि, अपने को देख ! तू कहाँ भटक गया, तू कहाँ जा बैठा ? तेरे आस-पास कौन हैं ? तुझे क्या समझ रहे हैं ये ?

प्रकृति का सबसे सुकुमार बच्चा ! चमेली बनाकर तब विधाता ने तेरी रचना की !

वही रंग, वही गन्ध ! तू खिला, सारा बाग चमचम कर उठा, मँह-मँह कर उठा।

भौरे दौड़े, भ्रमरियाँ दौड़ीं ! रसिक दौड़े, नाज़नियाँ दौड़ीं।

डाल का शृङ्गार, गले का हार बना ! शरीर शीतल हुआ, आत्मा तृप्त हुई !

किन्तु ! किन्तु······

कवि, यह अजब जमाना है ! घी में चर्बी मिलाना ही आज का

रोजगार है । अब फूलों से गन्ध नहीं निकाली जाती ; कोलतार से एसेंस बुलाया जाता है !

तुझे कौन समझे ? तुझे कौन दुलराये ?

तेरे भोलेपन का नाजायज फायदा उठाया जा रहा है । तेरी प्यास का उपहास किया जा रहा है ! तेरी भूख वह समझे, जो गेहूँ को ही जीवन का सबसे उपयोगी तत्त्व समझता है ?

वह तुझे फुसलाता है, भरमाता है, भटकाता है । तुझे गड्ढे में ढकेल कर चिल्लाता है--देखो, यह पियक्कड़ पड़ा है ! तेरी पत्तल पर चार रोटियाँ फेंक पुकारता है, यह भुक्खड़ कहाँ से चला आया !

सारे जमाने ने तेरे विरुद्ध एक षड्यंत्र का जाल बिछा रखा है !

तू भोला, उस जाल में फँसा छटपटा रहा है !

तोड़ इस जगजाल को, भ्रमजाल को ! तू अपनी जगह पर बैठ । तू अपनी बात कह !

तुझे जो कहना है, कहता चल ! तुझे क्या परवाह कोई सुनता है या नही !

जो सुनने वाला होगा, वह तेरे पास आप-आप आयगा !

तुझे अपने पास बुलाये, किस में इतनी जुर्रत है ?

और जो तुझे गिरोह में, झुण्ड में बुलाता है, क्या वह तुझे भेड़ नहीं समझता है ?

भेड़ समझता है या भेड़िया--बात एक है । वह तुझे गड्ढे में गिराना चाहता है, या आपस में लड़ाकर मारना चाहता है !

"सिंहन के लेंहड़े नही, हँसन की नहीं पात !"

तेरा अकेला गर्जन सारे वन को थरथर कँपाने के लिए काफी है ! तेरी अकेली उड़ान अनन्त नील गगन को प्रभासित, उद्भासित कर देने के लिए बहुत है !

तू अकेला विचरण करता आया है ! तू अकेले उड़ान भरता आया है !

तू अकेला विचर ; तू अकेला उड़ !

ओ मृगेन्द्र, ओ राजहँस ! इन शिकारियों से, इन बहेलियों से बच !

कवि, प्यारे कवि, मेरे कवि ! अपने को पहचान ! पहचान !

१६

साहित्य-कला और मध्यम-वर्ग

'जाति न पूछो साधु की'—कबीर ने कहा था। आज का कलाकार भी कह सकता है, क्यों परेशान हो कि मैं किस वर्ग में आया? देखो यह कि मेरी कृति क्या है?

लेकिन, तो भी, जैसे प्राचीन काल में जाति पूछी जाती थी, तभी तो कबीर ने कहा, 'जाति न पूछो साधु की' उसी तरह आज का युग वर्ग की खोजढूँढ करेगा ही! खासकर जब वह समाज के ढाँचे का विश्लेषण करने बैठा हो।

समाज के ढाँचे में वर्ग खोजने की यह पद्धति कार्लमार्क्स ने निकाली उन्होंने दो छोर पर दो वर्गो को रखा—पूंजीपति और मजदूर और बीच के एक वर्ग को मध्यमवर्ग कहा, जिसमें किसान, कारीगर, दिमाग-पेशा आदि लोगों को उन्होने रखा।

बात यही तक रहती, तो कोई बात नहीं थी। उन्होंने एक बुरी भविष्यवाणी कर दी कि मध्यमवर्ग धीरे-धीरे नाश को प्राप्त होगा-उसे या तो पूजीपतियों के गिरोह में शामिल हो जाना होगा, या मजदूरों के झुण्ड में।

आज के समाज में जो आर्थिक नियम काम कर रहे हैं, उसका अनिवार्य परिणाम यही होगा, उन्होंने बड़े जोर देकर यह बात कही थी।

मार्क्स की इस भविष्यवाणी को एक सौ वर्ष हो गये, बल्कि उससे भी अधिक, इसके दरम्यान कितने उथल-पुथल हुए, कितनी क्रान्तियाँ हुई, ताज-पर-ताज गिरे, देशों के नक्शे बदले, किन्तु यह मध्यवर्ग कायम ही नहीं है, उसका प्रभाव और प्रभुत्व भी बढ़ता जाता है!

लगता है, इसकी जड़ कुछ इतनी गहरी है, इतनी गहरी कि इसका

मूल किसी अमृत-कुंड तक पहुँच चुका है, फलतः वहाँ से जीवन का वह रस इसे अनवरत प्राप्त हो रहा है जिसने इसे मृत्यु पर विजय दिला दी है, इसमें बढ़ने, फैलने, फूलने की निस्सीम शक्ति दे दी है !

वह अमृत-स्रोत क्या है, कहाँ है, अभी हमें इतनी दूर तक नहीं जाना है। 'फलेन परिचीयते' अनुसार यदि हम यह देख लें कि इस वर्ग ने समाज को दिया क्या है, तो भी हमारा काम चल जाय।

कला और साहित्य को हम लें। और उसे हम यूरोप से इसलिए शुरू करें कि वहाँ इस दृष्टि से काफी खोज-ढूढ भी हुई है। यदि किसी क्षेत्र में नही हुई, तो काफी सामग्रियाँ वहाँ एकत्र हैं, जिनको आधार मानकर हम सही नतीजे पर पहुँच सकते है !

लियोनार्दो द विची से लेकर पिकासो तक—यूरोप के सभी कलाकारों को देखिये, वे किस वर्ग से आये थे ? इटली की कला को प्राचीन यूरोप की कला भी कह सकते हैं—महान् त्रिमूर्ति लियोनार्दो, माइकेल, ऐंजेलो, राफेल—तीनों ही तो मध्यवर्ग की संतान थे और मध्यवर्ग की सारी कठिनाइयों को पार करते हुए वे आगे बढ़े, जिन्दगी-भर परिस्थितियों से लडते रहे—और तो भी वे चीजें दे गये कि उन्ही के आधार पर यूरोप की कला आज तक फूलती-फलती आई है।

इसमें शक हो सकता है कि सबसे बडा कलाकार कौन—किन्तु सबसे बडा चित्रकार तो रुबेन है, इसे सबने स्वीकार किया है। शब्दों की दुनिया में जो स्थान शेक्सपीअर का है, रंगों की दुनिया में वह स्थान रुबेन को मिला है। यह फ्लेमिश कलाकार कौन था ? एक मध्यवित्त परिवार की संतान। सात भाषाओं का जानकार। एंटवर्प में उसका घर तत्कालीन यूरोपीयन कलाकारों का तीर्थस्थान था, जहाँ से उसने तीन हजार चित्र यूरोप के राजभवनों, गिरजाघरों और कला संग्रहालय के लिए भेजे !

वेनिस के तिशियानो, हालैंड के बूगल और रेमब्राँ, ग्रीस का एलग्रेको, पुर्तगाल का वेलास्केज, स्पेन का गोया, इंगलैंड का ब्लेक, अमेरिका का औडुबन, फ्रांस की आधुनिक कला की त्रिमूर्ति—देमिये, माने और लाउत्रे—फिर सिज़ाने, जिसकी कला को चरम सीमा तक पहुँचाया है

पिकासो ने और स्वयं पिकासो—ये सबके सब किस वर्ग से आये ? मध्य-वर्ग से ही तो ? चाहे उसकी निचली सतह से या ऊपरी सतह से ।

हाल ही समरसेट मॉडम की एक पुस्तक निकली है, जिसमें उसने संसार के दस सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों और उपन्यासकारों पर प्रकाश डाला है । उसमें सिर्फ एक टाल्स्टाय को आप मध्यवर्ग से बाद दे सकते हैं, वह भी मुश्किल से; किन्तु शेष नौ तो इसी वर्ग से आये हैं । मॉडम की राय में बालजक संसार का सबसे बड़ा उपन्यासकार है—उसके आविष्कार महान् थे, उसने जितने प्रकार के पात्र पैदा किये, उतने न कोई पैदा कर सका, न कर सकेगा । मानो, वह प्रकृति की अदम्य शक्ति था—एक ऐसी नदी जो घहराती, किनारों को डुबोती, हर चीज को बहाती-भँसाती चलती है; एक ऐसी आँधी जो गाँवों को झकझोरती और शहरों को चर्र-मर्र कराती अनवरत बढती जाती है । एक वकील का बेटा, बाप ने चाहा, वकील बने, लेकिन वह बन गया लेखक और लेखक भी कैसा ?

हेनरी फीलडिग, जेन आस्टिन, स्तेघल, एमिली बोंटे, गुस्तेव फाउवर डिकेंस, दोस्तियोवेस्की, मेलविले —मॉडम के द्वारा बताये ये सभी उपन्यास-कार मध्यवर्ग से ही आये थे ।

यूरोपीय रंगमंच—चाहे नाटककार या अभिनेता किसी भी दृष्टि से देखिये—अपनी उन्नति और विकास के लिए मध्यवर्ग का ही अनुग्रहीत है । शेक्सपीअर किस वर्ग से आया था और बनार्ड शॉ ? मौलियर और गेटे किस वर्ग की देन थे ? इब्सन, मेटरलिक, चेकोव—तीनों के तीन रंग तीन देश, तीन भेष, किन्तु आदि स्रोत तीनों का एक ही—मध्यवर्ग । गैरिक, थेलमा, बेन जौन्सन, एलेन टेरी, सारा बर्नहार्त—ये अभिनेता और अभिनेत्रियाँ—जिनकी भावभंगिमाओं ने रूखे-सूखे अक्षरों में जान डाल दी, उन्हें साकार कर दिया, लाखों दर्शकों को हँसाया और रुलाया—वे सबके सब किस वर्ग से आए थे ?

पश्चिमी संगीत और उसकी जुड़वी संतान ओपेरा और बेले अपने मनोहारी रूप के लिए मध्यवर्ग के ही ऋणी हैं । बिठोवन, मोजार्ट, वागनर, बाख, लिस्ज, चोपिन, स्विजातेत्राजिनी, रखोयनवर्ग, स्ट्रा-विंस्की—स्वरों के ये जादूगर, जिनकी जादूगरी आज भी यूरोप पर छाई

हुई है, उसी वर्ग से आये, आते रहे, आ रहे हैं, जिसकी मृत्यु की भविष्य-वाणी कर दी गई थी।

बिठोवन के जीवन की एक घटना याद रही है। एक दिन बिठोवन अपने प्यारे दोस्त गेटे के साथ सड़क से जा रहा था कि सामने से शाह की सवारी निकली। नियमानुसार गेटे ने टोपी उतार ली और सर झुका कर खड़ा हो गया। यह देखते ही बिठोवन जल उठा, उसने कड़ककर कहा—गेटे, गेटे, तुमने कलाकार की इज्जत धूल में मिला दी। और टोपी फिर सर पर रखे, वह अकड़कर, सड़क पर टहलने लगा। जर्मनी के शाह ने उसे देखा, मुस्कराया और फिर अपने देश के गौरव इस कला-कार को अपनी गाड़ी पर बिठा लिया। क्या बिठोवन ने ऐसा करके यह सिद्ध किया था, मध्यवर्ग सबसे महत्वपूर्ण वर्ग है? उसके सामने ऊंचा दिखाई पड़नेवाला वर्ग भी कुछ वुकत नही रखता है? आज उस शाह का नाम भी लोग भूल गये, किन्तु रोम्यारोलॉ ने हाल ही कहा था—बिठोवन के संगीत की एक कड़ी पर राजनीतिज्ञों द्वारा किये गये दर्जनों क्रांतिकारी सुधारों को निछावर किया जा सकता है।

जैसा पहले कह चुका हूँ—अपने देश के कलाकारों और साहित्य-कारों के वंश या वर्ग के बारे में अभी पूरा पता नही लगाया जा सका है। अनुश्रुतियों और जनश्रुतियो के ताने-बाने बुनकर ही हम उनके बारे में कुछ जान सके हैं। किन्तु, जहाँ से इतिहास हमारा साथ देता है, हम पाते हैं, मध्यवर्ग ही वह खान रही है, जहाँ से हम कला और साहित्य के उत्तमोत्तम रत्न पाते रहे हैं! विद्यापति किस वर्ग से आये थे? 'दियो जनम सुकुल, शरीर सुन्दर'—का अभिमान करने वाले बाबा तुलसीदास का जन्म किस वर्ग से हुआ था? वह कौन-सा सौभाग्यशाली वर्ग है जिसने देव, बिहारी, मतिराम से लेकर महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचन्द और प्रसाद तक की उत्तमोत्तम कवियों, लेखकों, कथाकारों, नाटककारों और आलोचकों की सुनहली माला माँ-हिन्दी के गले में डालकर उसकी श्री शोभा में वृद्धि की? यों ही तानसेन से लेकर फेयाज खाँ और ओंकार-नाथ ठाकुर तक की संगीत-धारा में किस वर्ग की स्वर-काकली गूजती हुई हम पाते हैं?

अन्य भारतीय भाषाओं की भी यही हालत है—तुकाराम, नरसी मेहता, चेतन्यदेव, मीर और गालिब से लेकर खाँडेकर, मुन्शी, शरद, रवीन्द्रनाथ, इकबाल और जोश किस वर्ग से आये हैं ! संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि यदि कला और साहित्य के क्षेत्र से मध्यवर्ग को निकाल दीजिये, तो वह नगण्य ही नहीं, शून्य ही शून्य नजर आयगा।

प्रश्न उठ सकता है, मध्यवर्ग का यों सभी क्षेत्रों पर छाये रहने के कारण क्या हैं ? खासकर कला और साहित्य में इसकी जो अपार महिमा है, उसकी तह में क्या है ?

मध्यवर्ग न तो अपने ऊपर के वर्ग---सामंत या पूँजीपति की तरह निश्चित आय पर निश्चिन्त जीवन बिता सकता है, न अपने नीचे के वर्ग—मजदूर या कमिया की तरह फटेहाली में रह सकता है। इसलिए उसे निरन्तर संघर्ष में रहना पडता है। इस सघर्ष ने उसमें कई गुणों का विकास किया है-- जहाॅ उसके ऊपर के वर्ग के लोगों में आलस और विलास का बोलबाला है और उसके नीचे के वर्ग में मूर्खता और कितर्व्य-विमूढ़ता का दौरदौरा है, वहाॅ इस वर्ग में सतत चैतन्य, अनवरत उद्योग और अटूट अध्यवसाय की भावना कूट-कूट कर भरी है। समय की सूझ, कष्ट-सहन की क्षमता, सदा आगे बढ़ने और ऊपर चढ़ने की लालसा और नये-नये ज्ञान की जिज्ञासा इसकी नस-नस में व्याप्त है। यह दो पाटों की बीच में है—ऊपर ज्वालामुखी है, नीचे अथाह समुद्र—एक जलाकर खाक बनाने और दूसरा इसे अपने में उदरसात करने को सदा तैयार बैठे हैं। अतः पग-पग पर फूँक-फूँक कर चलना पड़ता है, जहाँ जरा-सी चूक हुई, पेर में रपट आई, आँखों में चकाचौंघ लगी, तो यह गया ! इसलिए इसमें उपर्युक्त गुणों का स्वभावतः ही विकास हुआ है। यह भी सही है कि इसी कारण से इसमें कुछ दुर्गण भी आये, जिसके चलते यह बदनाम हुआ, समाज ने इसे शंका की दृष्टि से देखा, इसे कष्ट भी कम उठाना नहीं पड़ा—किन्तु, तो भी यह डटा है और बहुत दिनों तक डटा रहेगा। जो इसकी उपेक्षा करेगा, वह अपना नुक्सान आप करेगा। खुशी की बात यह है कि कट्टर मार्क्सवादी भी इस वर्ग के प्रनि अपना रुख बदल रहे हैं !

कला और साहित्य में इस वर्ग की एकछत्रता का कारण स्पष्ट है, किन्तु कभी अधिक स्पष्टता भी लोगों में अज्ञान का संचार करती है। है। एक जमाना था, जब कहा जाता था, कला विलास की जननी है। कवियों और लेखकों की सदा उपेक्षा होती रही, क्योंकि मान लिया गया था, ये लोग स्वप्नदर्शी है। धीरे-धीरे यह मान्यता समाप्त हो रही है ! किन्तु अब भी इस पर ध्यान नही दिया जाता कि यह क्या बात है कि किसी के दिमाग में वह खूबी पैदा हो जाती है कि वह कूची या हथौड़े से नई-नई सूरतें गढ़ने लगता है, कोई गुनगुनाने और गाने लगता है या कोई कागज पर कलेजा निकालकर रखने लगता है—जो हमें रुलाता है, हँसाता है। मानता हूँ, ये बारीक बाते हैं, इन पर गहरी छानबीन होनी चाहिये। किन्तु, यह तो हम नित्य देखते ही है कि इस अजीबो-गरीब बीमारी के लग जाने के कारण के लिए एक खास परिस्थिति होती है, एक खास वातावरण होता है। ऐश्वर्य में, भोग में, विलास में डूबे हुए सामत या पूँजीपति के मस्तिष्क में, हृदय में, धमनियों में वह स्पन्दन, स्फुरण, आलोड़न हो नही सकता, जो चित्र, संगीत, कविता या किसी भी कलाकृति के सृजन के लिए अपेक्षित है ! यों ही दिन रात भूख से युद्ध करता हुआ, थका-हारा, सर्वहारा भी क्या खाकर इस कूचे में आ सकता है ? अपवाद भी हो सकते हैं, हुए है। किन्तु अपवाद तो नियम को सिद्ध ही करते हैं। यह मध्य-वर्ग ही है, जो भूख और तृप्ति के बीच खड़ा होकर, कभी इसकी छटपटाहट और कभी उसकी सुगबुगाहट का लुत्फ लेता हुआ, उस चीज की सृष्टि कर ले जाता है, जो इन चीजों से ऊपर है, परे है ; सत्य है, शिव है, सुन्दर है !

१७

बैले या नृत्य-रूपक

जब मै विलायत जा रहा था, मेरे एक अनुभवी मित्र ने कहा था—यूरोप में रगमंच जरूर देखियेगा। वहाँ के रंगमंच वहाँ वालों के लिए तीर्थ-स्थान हैं।

और यह सच है कि अपनी दो बार की यूरोप-यात्रा में मैं कोई भी ऐसा मौका नही चूक सका जबकि वहाँ के रंगमंच को देख सकूँ। लन्दन, पेरिस, रोम—सब जगह मुझे धुन लगी रही वहाँ के रंगमंच को देखने की।

यूरोप में नाट्यकला बहुत ही विकसित अवस्था में है। हम वहाँ के रंगमच के विकसित रूप की यहाँ कल्पना भी नहीं कर सकते। उसमें दिन-दिन परिवर्तन और परिवर्द्धन होते जा रहे हैं।

बैले की बात लीजिये। बैले को नृत्य-रूपक कहिये। मंच के नीचे वाद्य-समूह है, जिससे संगीत की ध्वनि निकल रही है और उसी ध्वनि के आधार पर रंगमंच पर नृत्य हो रहा है। संगीत की ध्वनि और नृत्य की धमक के अतिरिक्त कही कोई शब्द नहीं।

लन्दन में जब पहली बार गया, "फ़ेस्टिवल ऑफ ब्रिटेन" की धूम थी। उस उत्सव के अवसर पर लन्दन में मारकोवा का बैले चल रहा था। मारकोवा नाम से मैंने समझा था, कोई रूसी नर्तकी होगी। किन्तु पता चला, नहीं, यह तो अंगरेज़ महिला है। बैले के साथ रूस का ऐसा अनन्य सम्बन्ध जुड़ गया है कि दूसरे देशों की नर्तकियों को भी अपने नाम को रूसी बना लेना जरूरी जचता है।

मैं मारकोवा का बैले देखने गया। पाँच तल्ले का रंगमंच—खचाखच भरा हुआ। बैले शुरू हुआ। नृत्य के कोई आठ टुकड़े होंगे। तरह-

तरह के रग के। किसी में हास्य, किसी में शृङ्गार। किसी में करुण, किसी में रौद्र। जनसाधारण में प्रचलित कथाओं के आधार पर ही वे नृत्य तैयार किये गये थे। रगमंच के नीचे वाद्य-समूह, जो निर्देशक की छड़ी के इशारे पर तीव्र या मन्द होता हुआ। ऊपर उसी के लय पर नृत्य हो रहे। जवानी भी, कला भी, लोग तालियाँ पीट रहे, हर्ष-ध्वनि कर रहे।

किन्तु, जब पेरिस गया और शॉजेलीजे-थियेटर में स्ट्राविंस्की का बैले देखा, तो लगा यह दूसरी दुनिया आ गई। यूरोप की कला धीरे-धीरे सूक्ष्मता की चरम सीमा पर पहुँच रही है, जहाँ सिर्फ संकेत ही संकेत है। चित्रकला, मूर्तिकला, कविता, संगीत, नृत्य सब पर यह प्रवृत्ति हावी हो रही है। स्ट्राविस्की—यूरोप के सगीतज्ञों का यह वृद्धशिष्ठ—जिसे लोग बाख, बागबर आदि की पीढी में मानते हैं।

इस रंगमंच के सामने लंदन का रंगमंच कितना पुराना लगता था। शॉजेलीजे—पेरिस की स्वर्गभूमि। जब उसके कक्ष में बैठा था, पृथ्वी भूल गई थी, लगता था, स्वर्ग के किसी हिस्से में हूँ।

स्ट्रविस्की के संगीत ने रंगमंच पर भी स्थान जमा लिया था। रंगमंच के नीचे ही नही, उसके ऊपर भी वाद्य-समूह के वाद्य और बालकों का दल डटा था। सोचने लगा, अब नृत्य कहाँ होगा ? कि बूढ़ा सगीत-निर्माता आया तालियाँ गड़गड़ाई। उसकी छड़ी के इशारे पर बाजे बजने लगे। स्वरों का चढ़ाव, उतार। चढाव जब आता था, विक्षिप्त समुद्र का गर्जन हो रहा है। उतार जब लगता था, गम्भीर शान्ति छा गई। सिर्फ हाथों का कम्पन बताता था, बाजे बज ही रहे हैं।

अचानक, मंच के ऊपर जो पर्दा था, उसमें एक चौकोर फाँक बन गई और उसमें कुछ सूरतें चलती-सी नजर आई। वे सूरतें—क्या वे सूरतें थी, या सूरतों के संकेत। स्वर के ताल के साथ उनके पैरों की गति बँधी थी, किन्तु क्या उसे नृत्य कहा जा सकता है ? तो उसे कहा क्या जायगा ? संकेत, संकेत, संकेत।—नृत्य, हावभाव, सब संकेत में ही।

किन्तु, जब तक पेरिस के "ओपेरा-हाउस" का बैले न देख

लीजिए, तब तक आपका कलाराधन अधूरा ही रहेगा। किन्तु ओपेरा-हाउस के लिए टिकट पाना क्या आसान है? होटल वाले से जब-जब कहा, उसने फोन किया, बताया, जगह खाली नहीं।

एक दिन सवेरे से जाकर वहां मँडराने लगा और जैसे-तैसे जगह मिल ही गई।

उस दिन एक ओपेरा और बैले दोनों का कार्यक्रम था। पहले ओपेरा हुआ, फिर इण्टरवल के बाद बैले शुरू हुआ।

मंच के नीचे वाध्य-समूह, मंच पर बैले—यह पुरानी प्रणाली ही वहाँ चल रही थी, उस दिन। कामदेव अपना कुसुम-शायक लिए बैठे हैं। तरह-तरह के प्रेमी और प्रेमिकाओं के जोड़े आते हैं। एक बुढ़िया एक युवक पर मर रही है। एक बुड्ढा एक किशोरी पर मर रहा है। यों ही सुन्दर, कुरूप, अन्धा, मृगनयनी, कूबड़ा, तन्वंगी आदि के अद्भुत जोड़े। वे एक दूसरे को फटकारते है, दुत्कारते हैं, एक दूसरे से भागते हैं। संगीत में सुलाने वाली ध्वनि निकलती है, सभी सा जाते है, कि काम अपना धनुष सँभालता है, उन पर अपने फूलों के तीर छोडता है। वे जगते हैं और लीजिए, किस तरह एक दूसरे पर बलिहार जाते हैं, एक दूसरे से चिपक जाते हैं!

लगभग पौन घण्टे का यह बैले। सचमुच जादू लगता था। ओपेरा-हाउस यूरोप का सबसे विशाल रंगमंच है। संसार का वह सबसे पुराना जीवित रंगमंच है। उसके साथ एक मर्यादित परम्परा है, जिसकी छाया भी कोई दूसरा रंगमंच छू नही सकता। इस छोटे-से बैले में उसकी तीन सौ वर्षों की कला-परम्परा प्रस्फुटित हो रही थी।

जब दूसरी बार लन्दन गया था, पता चला, वहाँ यूगोस्लाविया की एक बैले-पार्टी आई है। इस पार्टी को यूगोस्लाविया की सरकार ने भेजा था। इस पार्टी के नृत्य-संगीत को देखकर आश्चर्य हुआ। उसमें कितना पूर्वी रंग था। श्रृङ्गार, परिधान सब में एशियाई छाप, बाजों की शकल-सूरत भी वैसी ही। लगता था, नेपालियों की यह पार्टी हो। मुझे इतनी समता लगी, कि उसी दिन अपने एक नेपाली मित्र को पत्र लिखने से नही चूक सका।

नाजियों के विरुद्ध जो छापामार आन्दोलन चला था, उसे नृत्य और संगीत में इस तरह बाँध दिया गया था कि मन में बार-बार हूक उठती थी, काश, हम ब्यालीस की अगस्त क्रान्ति को इसी तरह कला-रूप देते। एक बार उत्कल के कुछ कलाकारों ने बयालीस की क्रान्ति पर एक ऐसा ही बैले पटना में प्रस्तुत किया था। किन्तु साधनहीनता के कारण ऐसी यथार्थता उसमें नहीं आ सकी थी।

रोम में एक रात इतालवी बैले देखने गया था। यह एक बगीचे में "खुला रंगमंच" पर दिखाया जा रहा था। मनोरंजन-पक्ष ही इसमें प्रबल था, हल्का-सा मनोरंजन, जो दिन भर की थकावट के बाद काम-काजू लोगों में नई स्फूर्ति देने के लिए आवश्यक होता है।

इस समय अपने देश में रंगमंच की ओर लोगों का ध्यान गया है। प्रायः हर प्रदेश में कुछ-न-कुछ किया जा रहा है। राज्य-सरकारें भी ऐसी चीजों को प्रोत्साहन दे रही हैं। जहाँ तक पुरानी चीजों को फिर से जीवित करने का सवाल है, हम बहुत कुछ कर रहे हैं। किन्तु आवश्यक यह जँचता है कि अन्य देशों में रंगमंच के भिन्न-भिन्न पहलुओं का जो विकास हो रहा है, हम उनसे भी सीखें। अब कला को सीमा में, चाहे काल की सीमा में या देश की सीमा में, बाँध नहीं सकते। बाँधना न व्यावहारिक है, न वाँछनीय है।

१८

साँस्कृतिक स्वाधीनता की ओर

जिम काम को पूरा करने में देश-देश के राजनीतिज्ञ और बड़े-बड़े सेनानायक, राज्यों के सम्पूर्ण साधनों और नाना प्रकार के भीषण अस्त्र-शस्त्रों के बावजूद, अपने को असमर्थ पा रहे हैं, उस काम के सम्पन्न करने के प्रयत्न में वे लोग आगे बढ रहे है, हाथों में सिर्फ कलम या कूची रही है या जो मानव भावनाओं का प्रकटीकरण अंगों की भंगिमा या स्वर-लहरी द्वारा करते आये है। ये कलाकार, ये साहित्यकार, ये शिल्पी, ये संगीत-शास्त्री क्या एक असम्भव कार्य को सम्भव करने का सपना नही देख रहे हैं ?

आप इसे सपना ही मानें, किन्तु अनेक सपनों की तरह यह सपना भी एक ठोस सभ्य सिद्ध हो रहा है। पेरिस में एक महीने तक जो आयोजन चलता रहा, यदि आप एक बार उसे देख लिए होते, तो मेरे कथन की सार्थकता में आपका जरा भी सन्देह नही रह जाता।

जब पिछला युद्ध चल रहा था, कहा गया था, यह युद्ध संसार से तानाशाही को नष्ट करने के लिए लड़ा जा रहा है, जो मानवता को पीसने वाली, स्वाधीनता का गला घोंटने वाली और सारे मानव इतिहास को बर्बरता की ओर लेजानेवाली है। किन्तु उस युद्ध को समाप्त हुए आधे युग बीत गये, मानवता आज भी कराह रही है, स्वाधीनता के हाथ-पैर आज भी कसे हैं, बर्बरता आज भी अपना विकराल मुंह बनाये खड़ी है। एक प्रकार की तानाशाही पूरी तरह खत्म भी नही हुई कि दूसरे प्रकार की तानाशाही सुरसा की तरह मुंह फैलाये जा रही है। मालूम देता है, यह राक्षसी जैसे सबको निगल कर रहेगी। उसका विस्तार बढ़ता जा रहा है, उसकी भयानकता बढ़ती जा रही है। हर

देश की सीमा पर ही नहीं, हर घर के दरवाजे पर उसकी सर्वग्रासनी काली छाया दिखाई पड़ रही है।

कलाकार या साहित्यिकार क्या करे ? क्या वह चुपचाप यह दृश्य देखा करे और सोचे कि यह मेरा काम नही ; अरे. इस राक्षसी से लड़ने की ताकत भी तो मुझ में नहीं। छोड़ दो इस काम को उन लोगों पर जिनके हाथों में इससे लड़ने के सारे साधन केन्द्रित है। चलो, हम-तुम बन्द करलें अपने को कल्पना के किसी हवाई महल में और वही से सौन्दर्य और प्रेम के, मिलन और विरह के मधुर-मोहक संगीत उड़ेलते रहे ! काश, साहित्यिकार और कलाकार की तकदीर में यह काल्पनिक सुख भी बँदा होता !

हमारे देश के कलाकार और साहित्यिकार अभी उस विभीषिका से परिचित नही हैं जो तानाशाही का अनिवार्य परिणाम है। अभी हम मीठे-मीठे सपनों में भूले हैं और मधुर-मधुर बातों में भटक जाना हमारा स्वभाव हो गया है। तभी तो तानाशाही के एजेण्टों द्वारा नाना नामों से बुने जाने वाले मकड़जालों में हम आये दिन अपने को फँसा लेते हैं और यदि एक बार फँस गये, तो क्या उनसे पिंड छुड़ाना इतना आसान है ? किन्तु यहाँ पेरिस में पन्द्रह देशों के जो सरस्वती के वर-पुत्र पधारे हैं—खासकर यूरोप के—आप उनके चेहरे देखिये और यदि सम्भव होता तो इनसे बातें करते, तब आपको मालूम पड़े कि तानाशाही क्या चीज है और किस प्रकार उसका सबसे पहला शिकार कलाकार या साहित्यिकार नामक इस कोमल प्राणी को ही होना पड़ता है ! भाषा की कठिनाई के कारण भले ही उनकी वाणी आप नही समझ पावें, किन्तु उनके चेहरों पर तानाशाही की विभीषिकाओं के चिन्ह आप स्पष्ट पायेंगे और उनकी आँखें बतायेंगी कि इसके विरुद्ध में वे "करो या मरो" के निश्चय की शपथ ले चुके हैं।

सांस्कृतिक स्वाधीनता काँग्रेस की ओर से आयोजित इस महान् अनुष्ठान के साहित्यिक विभाग का श्रीगणेश १६ मई, १९५२ को हुआ। पेरिस के एक प्रतिष्ठित सभा-भवन में देश-देश से आये लगभग एक सौ प्रतिनिधि और हज़ारों दर्शक एकत्र हुए। उन प्रतिनिधियों को देख कर,

और उसमें बोलने वाले वक्ताओं के भाषण सुन कर, तथा दर्शकों पर होने वाली प्रतिक्रिया का अनुभव कर यह स्पष्ट हो जाता था कि सांस्कृतिक स्वाधीनता कोई काल्पनिक बात नही रह गई है—वह कलाकार के लिए जीवन-मरण का प्रश्न बन गई है। कांग्रेस के मंत्री श्री निकोलस जैवोकौव के स्वागत भाषण से लेकर उस दिन के सभापति सलवदर द मादरियगा के भाषण तक से यही ध्वनि निकलती थी। दक्षिणी अमेरिका के प्रसिद्ध पत्रकार श्री सैण्टोस, अमेरिका की उपन्यास लेखिका श्रीमती वैथरिन ऐने पोर्टर, फ्रॉसीसी लेखक जीन ग्वेहेन्नो, सुप्रसिद्ध अंग्रेज कवि स्टेफेन स्पेण्डर, फ्रॉस के समाजशास्त्री रोजर शाइलाई, इतालियन उपन्यासकार ग्विदो पियोविन और इस कांग्रेस की कार्य-समिति के सभापति स्वीजरलैण्ड के श्री देनिस द रुज़मों—सबने इसी बात पर जोर दिया कि कलाकार अपने को चारों ओर के वातावरण से पृथक नही रख सकता, उसकी कला का विकास तभी सम्भव है जब उसके उपयुक्त स्वाधीन और उन्मुक्त वायुमण्डल हो, कलाकार को यह नही भूलना चाहिये कि वह एक नागरिक भी है और फलत: उसका यह पवित्र कर्तव्य है कि वह स्वाधीनता और न्याय के लिए लड़े! फ्राँसीसी लेखक साइलोई ने पिछले पचास वर्ष के यूरोपीय साहित्य की छानबीन करते हुए कहा—"पिछले पचास वर्षो के साहित्यिक संसार ने अपने को दूषित और घिनौना बना डाला क्योंकि वह या तो कल्पना-लोक में रमता रहा था विलासिता के चाकचिक्य में फॅसा रहा। उसने अपने साहित्य में मानव के लिए कही स्थान ही नही रहने दिया या जहाँ उसे जगह भी दी तो महानता में नहीं, विभीषिका में। और रूजमों ने इन शब्दों में आज के कलाकार और साहित्यकार के लिए दिशा-निर्देश किया—"तात्कालिक सामाजिक और आर्थिक ढाँचे में लेखक स्वाधीनता का प्रधान उपादान होता है। उसका कर्तव्य है कि वह उन हरकतों के खिलाफ आवाज उठाये जो उसके निर्माण के अधिकार पर बेजा दखल देती है। यदि वह ऐसा नहीं करता है, तो एक दिन उसे चुप बैठने का अधिकार भी खो देना पड़ेगा।"

अब लेखक या कलाविद चुप बैठा नहीं रहेगा, यह कांग्रेस इस बात

की सूचना देती थी। अपनी छोटी जिन्दगी में ही इसने लेखकों, कलाकारों, दार्शनिकों और वैज्ञानिकों का एक विशाल संगठन कर लिया है। इसके सम्माननीय सभापतियों में वेनेदेत्रो क्रोचे, जौन डीवी, कार्ल जैस्पर्स, जैक्स मेरीतें, सलावदरद मादरियागा और बर्ट्रेंड रसल ऐसे संसार के गिने-चुने महापुरुष है। इस साहित्यिक आयोजन में ही रूस, जर्मनी, डेनमार्क, हालैंड, स्वीजरलैंड, स्पेन, इटली, रूमानिया, पोलैंड, आस्ट्रिया, ग्रीस, फ्रांस, इंगलैंड, अमेरिका, ब्राजिल के वे साहित्यिक सम्मिलित हुए थे। जिनकी रचनाओं का अंग्रेजी अनुवाद पढ़कर हम तृप्त होते रहे हैं। आडेन लुई मेकनिस और स्पेन्डर ऐसे अंग्रेजी के तीन आधुनिक कवि भी पधारे, जिनकी रचनाओं ने हिन्दी कविता को भी कम प्रभावित नही किया है। साहित्य और भाषा सम्बन्धी चार गम्भीर प्रश्नों पर विचार हुआ। अन्तिम दिन "संस्कृति का भविष्य" पर जो बातें हुई, उसमें नोबेल पुरस्कार विजेता विलियम फौकनर, सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक आन्द्रे मालरो और इटालियन उपन्यासकार इन्नात्सियो सिलोने ऐसे साहित्यक-महारथियों ने भाग लिया।

इन विचार-विमर्षो के अतिरिक्त इस अवसर पर बीसवीं सदी की सर्वोत्कृष्ट कलाकृतियों के प्रदर्शन का भी आयोजन किया गया था। स्वाधीनता के वातावरण में कला का किस प्रकार सर्वमुखी विकास सम्भव है, इसे सिर्फ शब्दों द्वारा ही नही, मूल कृतियों द्वारा सिद्ध करने का ऐसा प्रयास शायद ही कभी किया गया हो। एक महीने तक पेरिस में साहित्य, संगीत और कला की त्रिवेणी बहती रही। इसमें जिसने अवगाहन किया, वह धन्य हुआ। स्वर की दुनियाँ में, रंग की दुनियाँ में, भंगिमा की दुनिया में और शब्द की दुनिया में इस पिछली आधी शताब्दि में जैसे-जैसे प्रयोग हुए हैं, उनके उदाहरणों को प्रत्यक्ष देखकर कौन विस्मय-विमुग्घ नही होता !

मुख्यतः यह आयोजन पश्चिमी देशों से ही सम्बन्ध रखता था—एशिया से सिर्फ कुछ लोग बुला लिये गये हैं। भारत, जापान और इण्डो-चाइना के ही प्रतिनिधि आये थे। हमने इसके उन्नायकों से बातें कीं और

उन्होंने स्वीकार किया कि एशिया के लिए एक ऐसा आयोजन यथासाध्य किया जाना चाहिये।

तानाशाही की राक्षसी की बाढ़ को रोकने के लिए सबसे आवश्यक यह है कि एशिया पर अधिक ध्यान दिया जाय—हमने इस सांस्कृतिक स्वाधीनता कांग्रेस के अधिकारियों पर बार-बार जोर दिया। यूरोप में उसकी बाढ़ रुक-सी गई है। उसके खिलाफ प्रचंड वायुमंडल तैयार हो गया है! किन्तु एशिया में उसका प्रभाव बढ़ता जा रहा है। पश्चिमी देशों की साम्राज्यशाही नीति ने उसके लिए यहाँ जरखेज जमीन भी तैयार कर रखी है। तानाशाही साहित्य इतनी सस्ती कीमत पर इतने बड़े पैमाने पर वितरित हो रहा है कि पढ़ेलिखे लोगों का दिमाग दिन-दिन खराब होता जा रहा है। कला-प्रदर्शिनियों की आड़ में भी तानाशाही के पक्ष में जनमत तैयार किया जा रहा है। इन सबकी काट का उपाय सोचना है।

यह मेरे लिए सौभाग्य की बात है कि मै जिस भाषा का वहाँ प्रतिनिधित्व करता था, उसके विस्तृत क्षेत्र ने पिछले चुनाव में ही सिद्ध कर दिया था कि वह तानाशाही को किसी भी रूप में स्वीकार करने को तैयार नही है। नौ बड़े-बड़े राज्यों की अट्ठारह करोड़ की जनसंख्या वाले इस हिन्दी क्षेत्र में तानाशाही का समर्थक एक भी कही से नही जीत सका! यह क्षेत्र सदा से भारत का हृदयदेश रहा है। यह अनुभव करना कम आनन्ददायक नही है कि भारत का हृदय सांस्कृतिक स्वाधीनता की भावना से ओतप्रोत है, यहाँ तानाशाही की दाल गल नही सकती!

जब हम पेरिस में एकत्र कलाकारों और साहित्यकारों के इस महामेला में सम्मिलित हो रहे थे, तो हमारे सामने उन शहीदों और वीरों की तस्वीरें थीं, जिन्होंने आत्मा की पुकार पर एक दिन कलम और कूची फेंक कर राइफल और तलवार भी पकड़ी थी। स्पेन, इटली और जर्मनी में की गई उनकी अपूर्व शहादत हम सबके लिए सदा प्रेरणा देती रहेगी। और जो लोग आज भी फौलादी पर्दे के भीतर के देशों में सांस्कृतिक स्वाधीनता की मशाल जलाये हुए हैं, उनके निकट हमारा मस्तक बार बार झुकता था।

पेरिस के इस अपूर्व साहित्यिक समारोह में अपने देश के सर्वश्रेष्ठ कवि, श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता के आधार पर रचित यह हिन्दी-कविता जो बचपन से ही मुझे याद है, बार-बार मेरे होठों को हिला देती थी। निःसन्देह यह सास्कृतिक स्त्राधीनना का विशुद्धतम रूप विश्व के समक्ष उपस्थित करता है—

जहाँ स्वतन्त्र विचार न बदले मन में मुख में;
जहाँ न बाधक बनें सबल निर्बलों के सुख में;
सबको जहाँ समान निजोन्नति का अवसर हो।
शान्तिदायिनी निशा, हर्ष सूचक वासर हो।
इस भाँति सुशोसित हो जहाँ, समता के सुखकर नियम!
बस उसी स्वतंत्र स्वदेश में जागें हे जगदीश हम!!

१९

नई संस्कृति की ओर

हमारी आँखो के सामने एक नया समाज बन रहा है, उसकी संस्कृति भी नई होगी !

पुराने समाज के खण्डहर पर ही नये समाज की अट्टालिका खड़ी होती है; पुरानी सस्कृति सूखे तने से ही नई संस्कृति की नई कोंपलें फूटेंगी !

प्राचीनता से हमें घबराना नही है, नवीनता पर हमें इतराना नही है। ये दोनों परस्पर विरोधी वस्तुएँ नही; पहली दूसरे का पूर्वरूप है और दूसरी पहले का विकसित रूप।

इतिहास लकड़ी का कोई लट्ठा नही कि आरी या कुल्हाड़ी से उसके दो टुकड़े कर एक को पुराना और एक को नया कह दीजिए। इतिहास एक धारा है—अविच्छिन्न और अजस्र रूप में प्रवाहित ! स्रोत का अग्रतम बिन्दु उद्‌गम से सम्बद्ध है, आबद्ध है। यदि उद्‌गम से उसका सम्बन्ध टूट गया, वह स्रोत से अलग हो जाय, फिर-बिन्दु मात्र बनकर विलीन हो जाने में उसे कितनी देर लगेगी।

जो लोग नये समाज की कल्पना में पुराने समाज को बाद दे देते हैं, वे कल्पना-लोक के वासी हैं—उनका नया समाज हवा में ही बन सकता है।

यों ही नई सस्कृति पुरानी संस्कृति से नत्थी है, जो यह नही समझते हैं, वे संस्कृति शब्द से खिलवाड़ करते हैं।

× × ×

समाज यदि वृक्ष है, तो अर्थनीति उसका मूल है राजनीति उसकी शाखा और संस्कृति उसका फूल है।

समाज अर्थनीति से खुराक पाता है, उसी के अनुसार उसकी वृद्धि और विकास होता है; किन्तु उसकी चरम सार्थकता होती है संस्कृति में।

जो अर्थनीति संस्कृति की ओर नही ले जाय, वह व्यर्थ है।

वह मूल सड़ जाय, जिससे वृक्ष में फूल ही नही लगने पाये।

प्रकृति को फूल बहुत प्यारे है, इसलिए जब वह मूल को फूल में बाधक होती देखती है, तब उसमें परिवर्तन करने से नही चूकती। इसलिए हम मूल में परिवर्तन पाते रहे हैं और पाते रहे हैं फूल में। प्रकृति की इस प्रक्रिया से ही हमारा समाज जीवित है, नित्य नवल है, फलतः शाश्वत सुन्दर है।

× × ×

मानव-समाज का वह युग, जब आर्थिक साधन सीमित थे, संकुचित थे।

जंगल के कन्द-मूल, फूल-फल; कभी कुछ शिकार—भाले या तीर से हिरन; बंसी या जाल से मछली।

समाज की जड़े मिट्टी के थोड़े ही नीचे गई थी, उसमें शाखा फूटी नही थी।

संस्कृति के फूल भी उसी के अनुसार खिले, उस युग के संगीत, नृत्य, छन्द; पर्व, उत्सव, आनन्द, परम्परा, व्यवहार, शिष्टाचार—सबमें कितनी सादगी थी।

किन्तु सादगी के साथ ही ताज़गी! जड़ों ने कुवारी पृथ्वी के रस चूसे थे न?

वेदों को देखिए—धार्मिक ग्रन्थ की दृष्टि से नही, मानवता की प्रथम वाणी के रूप में। क्या वैसी सादगी और ताजगी कही अन्यत्र प्राप्त हो सकती है?

समय के साथ समाज विकसित होता जाता है—नीचे का मूल फैलता जाता, गहरा होता जाता है और शाखाओं पर शाखायें फूटती जाती हैं। ऊपर से फूल भी सतरंगी, बहुरंगी होते जाते हैं।

आगे बढ़कर हम राज्य बनाते हैं, साम्राज्य बनाते हैं। नारियों के साथ रानियाँ आती हैं। स्वरों का विकास, छन्दों का विकास! जमीन-

आस्मान के कुलाबे मिलाये जा रहे हैं ! महाभारत, रामायण, अभिज्ञान शाकुन्तलम्, मुद्राराक्षस —हमारे समाज के विकास की ये अमूल्य धरोहरें हमें बताती हैं कि हमारा समाज धीरे-धीरे किस तरह विकसित होता रहा है और किस तरह उसी के साथ बदलती रही है हमारी संस्कृति !

इतिहास एक धारा है। धारा में कभी-कभी भँवर पड़ जाते हैं। वह चक्कर काटने लगती है। यों ही कभी-कभी अगल-बगल छाड़न छोड़ देती है, जहाँ पानी स्थिर हो जाता है। उसमें सड़ाँध आ जाती है।

पिछले एक हजार वर्ष तक, मेरी समझ से, हमारी सामाजिक धारा की यही हालत रही !

किन्तु यह हालत कब तक ? धारा में बाढ भी आती है न ? भँवर को तोड़ती, छाडन को डुबोती, वह देखिए, वह क्या बढी आ रही है ?

नीचे अर्थनीति में आमूल परिवर्तन होने जा रहा है, राजनीति भी नया रूप धारण कर रही है। संस्कृति में भी परिवर्तन के रंग झलकने लगे हैं !

एक नया समाज बनने की प्रक्रिया हम देख रहे है, एक नई संस्कृति की छाया भी हमारी आँखों के सामने नाच रही है !

× × ×

एक नया समाज, एक नई संस्कृति !

नया समाज जिसकी अर्थनीति व्यक्तिगत से हटकर सामूहिक बनने जा रही है, बनती जा रही है।

राजसत्ता पर प्रजासत्ता ने विजय पाई है।

उसकी संस्कृति भी सामूहिक होगी, जनतांत्रिक होगी।

आज तक का समाज; मुख्यतः व्यक्तियों का समाज ! चन्द मुखियों का समाज, एक मुट्ठी सामन्तशाहों का समाज; फिर दस-बीस पूँजीपतियों का समाज !

बेचारी संस्कृति भी कुछ व्यक्तियों में बंधी, फँसी !

कितना भी दीपक जलाइए, घण्टा-घड़ियाल बजाइए, वहाँ से

शून्यता कहाँ दूर होने वाली है, जहाँ का भगवान् मानव से पाषण बन गया है !

हमने बड़े-बड़े सांस्कृतिक "ताज" भी बनाये, किन्तु उनके भीतर मुर्दा, ऊपर पत्थर ! ऊपर का पत्थर कितना भी चमकीला हो, भीतर जीवन का अभाव उन्हें डरावना बनाये रहा !

संस्कृति को व्यक्ति के खूँटे से खोलना है, भगवान् को मन्दिर के घेरे से हटाकर खुले आसमान के नीचे खड़ा करना है, मुमताज को ताज के कारा से उद्धार करना है।

नई संस्कृति—एक निर्बन्ध, उन्मुक्त संस्कृति ! नई संस्कृति—सबकी संस्कृति, सर्वत्र की संस्कृति !

जब सभी के कौशल, सभी के अनुभव सबको ऐश्वर्यमय, ज्ञानमय बनायेंगे !

जब सारा वृक्ष, वृक्ष की डाल-डाल, डाल की टहनी-टहनी फूलों से लदी होगी !

फूल-नाना रंग के, नाना गन्ध के; किन्तु सबमें एकात्मता ! अनेकता में एकता !

उनके मूल जब सामाजिक स्रोत से भोजन पावेंगे, तो फूलों में बहु-लता के भीतर समानता अन्तर्हित होगी ही।

और यह नई संस्कृति भी हमारी अपनी संस्कृति होगी—उसी तरह, जिस तरह वैदिक, पौराणिक या एतिहासिक युग की संस्कृति हमारी अपनी थी।

इस नई संस्कृति में वेदकाल की ताजगी होगी; पौराणिक युग का विस्तार होगा; ऐतिहासिक युग के अलंकार होंगे और होंगी वर्तमान युग की रंगीनियाँ।

नई कहने से मत घबराइए, होश-हवास मत खोइए। याद रखिए प्राचीनता पूजनीय है; नवीनता अभिनन्दनीय !

नए समाज में विकसित होने जा रही इस हरी-भरी, फली-फूली, सुन्दर और रंगीन संस्कृति का अभिनन्दन अभी से कीजिये !

२०

हिन्दी भाषा का स्थिरीकरण

जब कभी आप अहिन्दी भाषियों के बीच में हिन्दी-प्रचार के लिए जाइये, तब आपको मालूम होगा कि हिन्दी का वर्तमान रूप उनके लिए कितनी झंझटें पैदा करता है। मान लीजिये, उन्हे एक ऐसे व्याकरण द्वारा क्रिया का रूप सिखलाया गया, जिसमें 'गया' का स्त्रीलिग रूप 'गई' लिखा गया है। अब जब दूसरी किताब में उनके सामने "गयी" या "गयी" शब्द आता है, तो स्वभावतः वे समझ लेते है कि यह "गया" का स्त्रीलिग रूप नहीं है, यह कोई भिन्न ही शब्द है। यों ही जब किसी ऐसी पुस्तक द्वारा उन्हें शिक्षा दी गई जिसमें कारकों के चिह्न हटा कर लगाये गये थे, तो चिह्न हटा कर छापी पुस्तकों का उनके लिए समझना भी मुश्किल पड जाता है; क्योंकि "गाय का दूध" का रूप "गाय का दूध" होते ही यह "गायका" उन्हें एक नया शब्द ही मालूम पड़ता है। यों ही अक्षरों के रूप, मात्राओं के रूप, व्याकरण के नियम आदि के इतने विभेद हैं कि अहिन्दी भाषी अकुला उठते हैं। तो भी उसका धीरज देखिये, वे हिन्दी आज ही नही सीख रहे हैं जब वह राज्यभाषा बन गई है, लगभग आधी सदी से वह उसे राष्ट्रभाषा के रूप में सीखते आये हैं!

अतः क्या यह आवश्यक नहीं जॅचता कि हिन्दी का रूप स्थिर किया जाय। मैं तो कहूँगा कि जितना इस काम में विलम्ब होता है, उतना ही हिन्दी का अहित हो रहा है!

किन्तु ज्योंही हिन्दी भाषा के स्थिरीकरण का प्रश्न आता है, सदा दुख के साथ देखना पड़ता है कि हम उसके प्रचलित भिन्न रूपों के स्थिरीकरण के बदले जो स्थिर रूप हैं, उन्हें ही उलट-पुलट करने में लग जाते हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण तब मिला, जब पटना में भारतीय हिन्दी

परिषद् की बैठक हुई। यह परिषद् मुख्यतः हिन्दी-प्रोफेसरों की परिषद् है। प्रोफेसरी की कुर्सी पर बैठते ही आजकल यों तो हर व्यक्ति अपने को आचार्य मान लेता है; किन्तु, इस परिषद् में ऐसे लोग भी आये थे, जिनकी आचार्यता को सर्वसम्मति से स्वीकृति मिल चुकी है। इन आचार्यों के अगाध ज्ञान और अनुभव के बावजूद इस परिषद् में भी कोई निर्णय नही किया जा सका। उल्टे नई-नई ऐसी बातें पैदा हुईं कि मामला और भी उलझ गया।

यह प्रश्न कितना पेचीदा है, यह इसी से सूचित होता था कि परिषद् के सूचना-पत्रकों में कहीं तो "स्थिरीकरण" छपा था, कहीं "स्थिरिकरण"! यानी, जो करना है, उसी का रूप स्थिर नही हो सका, तो आगे की कौन-सी बात। परिषद् ने व्याकरण की विभिन्नताओं को अलग रख कर पहले शब्दों के रूप—बरतनी—को ही स्थिर करने के प्रश्न पर विचार-विमर्श किया। शब्दों के रूप के पहले अक्षरों के रूप पर विचार करना आवश्यक था, अतः पहले इसी विषय को डा० धीरेन्द्र वर्मा ने पेश किया। डा० वर्मा, उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा नियोजित नरेन्द्रदेव-समिति के एक मानवीय सदस्य थे, अतः उन्होंने उसी समिति की सिफारिशों को रखा। इसमें सन्देह नही कि अब तक इस सम्बन्ध में जितने सुझाव रखे गये हैं, इस समिति के सुझाव उन सब में सुलझे हुए हैं। समिति ने पहले ही यह मान लिया है कि जहाँ तक सम्भव हो, नागरी अक्षरों में कम-से-कम परिवर्तन किया जाय। जहाँ तक अक्षरों के रूप का प्रश्न है, "र" को छोड़ कर उसके अन्य सुझाव ऐसे हैं कि उन्हें स्वीकार कर लेने में अधिक आपत्ति नही हो सकती। किन्तु, एक "र" का यह प्रश्न भी कम जटिल नही है। इसका जो विकृत रूप समिति ने स्वीकार किया है, उसे तो किसी प्रकार स्वीकार नही किया जा सकता। समिति ने "ॐ" का मूल रूप इसलिए स्वीकार कर लिया कि यह एक धार्मिक शब्द बन गया है। यों ही उसने "श्री" के रूप को भी स्वीकार किया कि दिल्ली के राजकाज में भी यह अति प्रचलित हो गया है। किन्तु, समिति शायद भूल गई कि इस "र" के साथ "राम" लगा हुआ है, जो अब "ॐ" और "श्री" से भी अधिक महत्त्व पा गया है। यों तो

शताब्दियों, सहस्राब्दियों से इसका धार्मिक महत्त्व था ही; गाँधीजी द्वारा अपना अराध्य और उपाह्य मान लिये जाने के कारण यह राजनीतिक महत्त्व भी प्रचुर मात्रा में प्राप्त कर चुका है। अतः, कुछ कठिनाइयाँ होते हुए भी, "र" के बारे में ज्यादा उलट-फेर स्वीकार नही किया जा सकेगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

मुख्य विवाद आता है मात्राओं के रूप को लेकर। हमारी मात्राएँ अक्षरों को चारो ओर घेरती हैं—आगे, पीछे, नीचे, ऊपर! नीचे-ऊपर की मात्राएँ हमारी हर पंक्ति को तीन पँक्तियाँ बना डालती हैं। इससे स्थान तो अधिक लगता ही है, असुविधा भी कम नही होती। कम्पोज करने में कठिनाई होती है, टंकन करने में गति में अत्यधिक बाधा पड़ती है। नीचे-ऊपर की मात्राये टूटती भी बहुत है। बहुत दिनों से सोचा जा रहा है कि मात्राओं की इस असुविधा को किस तरह दूर किया जाय। तरह-तरह के सुझाव आते रहे है, नरेन्द्रदेव-समिति ने जो सुझाव रखे हैं, वे उन्ही पुराने-सुझावों का संस्कृत रूप है, फलतः उन सुझावो से वे अच्छे हैं। किन्तु हमारा ख्याल है, इन सुझावों को स्वीकार करने के समय समिति ने इस पर ध्यान नही रखा कि यंत्र हमारे लिए हैं, न कि हम यंत्र के लिए। हमें चाहिये यह कि यंत्र को अपनी सेवा के उपयुक्त बनायें, न कि स्वयं अपने को यंत्र की सेवा के योग्य बना लें। यदि समिति इस ढंग से सोचती तो वह उन यात्रिकों—टैक्नेशियनों से सलाह-मशविरा करती, जो इस सम्बन्ध में काम कर रहे हैं। दूर जाने की बात नही है, हमारे बिहार में ही एक ऐसे विद्वान् यांत्रिक है जिन्होने मात्राओं के इस प्रश्न को टंकन में हल कर दिया है। और, जब टंकन में उसका हल हो चुका, तो कम्पोजिग में भी हल होकर रहेगा। हमें सदा यह याद रखना है कि आजकल हाथ से कम्पोज करने की जो प्रथा है, वह दस-पन्द्रह साल में ही खत्म होने जा रही है। यह युग मोनो का है, लीनो का है। टंकन में जो पद्धति सफल हो चुकी, वह उन पर भी सफल होकर रहेगी। अतः हम लोग व्यर्थ ही अपने अक्षरों का अंगभंग क्यों करें?

इस सम्बम्ध में हमें एक बात और याद रखनी है। हम भविष्य के

बारे में सोचते समय अतीत को नहीं भूलें। अक्षरों या मात्राओं में हम ऐसा परिवर्तन नहीं करें कि पुरानी जितनी छपी या लिखी पुस्तकें हैं, वे सब-की-सब बेकार चली जायँ यही नहीं, आज जो लोग पुराने ढंग से पढ़ चुके या पढ़ रहे हैं, उन्हें भी फिर से अक्षर-ज्ञान कराने की आवश्यकता आ पड़े। एक ओर हम निरक्षरता दूर करने में भी समर्थ नहीं हो सके है, दूसरी ओर जो साक्षर हैं, उन्हें भी हम फिर निरक्षर बना डालें, यह कहाँ की बुद्धिमानी है। हमें आश्चर्य लगता है उन लोगों पर जो एक ओर सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक यहाँ तक कि साहित्यिक मामलों में भी दकियानूस हैं, वे ही अक्षरों और शब्दों के रूप के बारे में इतने क्रान्तिकारी किस तरह बन जाते हैं! क्या वे उन क्षेत्रों के अपने दकियानूसपन को इस तरह ढँकना चाहते हैं? कम-से-कम एक क्षेत्र में तो हमें क्रान्तिकारी समझा जाय, यह भावना क्या उन्हें परेशान करती है? ऐसे सज्जनों से हमारा निवेदन है, कृपया अपनी इस क्रान्तिकारिता को हम पर नही लादिये। अक्षर और शब्द का मामला इतना आसान नही है कि जब जो चाहा, हम तोड़मरोड़ कर दें। सहस्राब्दियों की रगड़ खाते-खाते अक्षर बने हैं, शब्द ढले हैं। उनके बनने या ढलने का एक खास नियम है। कृपया इस नियम की ओर भी ध्यान दीजिये, तभी कोई नया सुधार या सुझाव आप ऐसा कर सकेंगे, जो खप सके, चल सके, दिल्ली और दौलताबाद की कहानी भाषा-क्षेत्र पर फिर दुहराने की चेष्टा न की जाय, हमारी यह विनती है!

लेकिन आज हो यही रहा है। कुछ दिन हुए सभी हिन्दी-प्रदेशों के शिक्षा-मंत्रियों और जिन्हें सरकारी मान्यता मिल चुकी है, उन आचार्यों की एक सभा हुई थी। उस सभा में यह प्रश्न आया और उन्होंने एक निर्णय भी कर लिया। यहाँ तक बात ठीक थी। किन्तु उचित यह था कि उस निर्णय को हिन्दी भाषियों के सामने रखा जाता, उनसे मत लिये जाते, फिर उन मतों की छानबीन कर एक सर्वसम्मत, नहीं तो बहुमत, निर्णयकर फिर उसे काम में लाया जाता। किन्तु, ऐसा क्यों किया जाता? शासन हमारे हाथ में; वेतनभोगी आचार्य हमारी मुट्ठी में हम जो करेंगे, तुम्हें स्वीकार करना पड़ेगा। उसने अपनी इस सुधरी लिपि में पाठ्य

पुस्तकें लिखने, छापने और पढ़ाने का भी आदेश दे दिया है। बेचारे लेखक और प्रकाशक क्या करेंगे। यदि उन्हें जिन्दा रहना है तो लखनऊ के इन नये नवाबों के हुक्म पर चलना ही पड़ेगा ! इस लिपि के कारण तुलसी, सूर और कबीर की रचनायें हो जाती हैं, तो हों, हरिश्चन्द्र, प्रेमचन्द और प्रसाद की आत्मायें स्वर्ग में झखें, तो झखते रहें; हरिऔध, श्यामसुन्दरदास और रामचन्द्र शुक्ल ऐसे आचार्यों के किये-धिये पर हड़ताल फिर जाय, तो फिरे—इनकी जिद चलेगी, चला कर ही छोड़ेंगे !

उस परिषद में एक आचार्य ने शब्दों के रूप स्थिर करने के सम्बन्ध में जो समस्यायें हैं, उन्हें उपस्थित किया। अलग-अलग देखने से जो प्रश्न इतना आसान मालूम पड़ता है, यथार्थतः वह बहुत ही जटिल है। प्रश्न इतना बड़ा था कि उसपर विचार-विमर्श के लिए समय भी नहीं मिल सका। किन्तु, उसी सिलसिले में कुछ विचार तो सामने आये ही। एक प्रश्न है, विशेष उच्चारण के लिए अक्षरों के नीचे जो बिन्दी लगाई जाती है, उसे रखा जाय या हटा दिया जाय। जो तद्भव शब्दों के हिमायती हैं वे तुरंत कहेंगे, अवश्य हटा दिया जाय। फारसी का 'ज़रूर', "ज़्यादा", "ज़बर्दस्त" हिन्दी में आकर "जरूर", "ज्यादा", "जबर्दस्त" बन जाय, तो आश्चर्य क्या ? जनता के बड़े हिस्से ने इन शब्दों को तद्-भव रूप में ही लिया है। अन्य भाषाओं में भी ऐसा होता है। किन्तु दिक्कत की बात तो यह है कि जो लोग फारसी या अंगरेजी शब्दों के लिए यह दलील पेश करते हैं, वे ही संस्कृत शब्दों के लिए सदा तत्सम रूप ही पसन्द करते हैं। हिन्दी जिन भाषाओं को अपना अँग मानती रही है, ब्रजभाषा, अवधी, बुन्देलखण्डी, भोजपुरी, मगही, मैथिली आदि में संस्कृत शब्द तद्भव रूप में ही लिए गये हैं। "श" तो इन भाषाओं में कहीं है नहीं, "ण" का भी पूरा अभाव है। इन क्षेत्रों की जनता भी "श" और "ण" से सदा परहेज करती आई है। फिर हम क्यों संस्कृत शब्दों को तत्सम रूप में ही लें। नियम जो कुछ बने, उसमें एक रूपता हो। किन्तु, आचार्य-महोदय ने अपने व्याख्यान के सिलसिले में ही एक बात कह दी, जो एक खास मनोवृत्ति की सूचक है। उन्होंने कहा, हमें नीचे

बिन्दी लगाने की प्रथा को छोड़ देना चाहिये, क्योंकि इस प्रथा को हमने मुख्यतः फारसी-अरबी शब्दों के लिए अपनाया था। किन्तु अब तो हिंदी से ये शब्द निकलते जा रहे हैं, "जरूर" के स्थान पर "अवश्य" चलता जा रहा है, अतः इस व्यर्थ के भार को हम क्यों ढोयें! यदि यह विचार परिषद् का भी विचार हो, तो यह स्थिति निस्सन्देह चिन्तनीय है।

जब-जब ऐसी बातें सुनते हैं, हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं! यह दलील तो समझ में आती थी कि जब नये पारिभाषिक शब्द बनाने पड़े, तो उसका मूलाधार हम संस्कृत को ही रखें, क्योंकि भारत की अन्य भाषायें भी वही से शब्द लेती आई है। इस तरह सारे भारत में पारिभाषिक शब्दों के एक-ही रूप कालक्रम से स्थापित हो जायेंगे। किन्तु, अब तो यहाँ तक कहा जा रहा है कि धीरे-धीरे सभी विदेशी शब्दों के स्थान पर हमें संस्कृत शब्द ही ले लेना चाहिये। मुझे विश्वास है, यह धारणा प्रबल बनी, तो देशज शब्द भी एक-एक कर हटा दिये जायँगे और हिन्दी को सिवा क्रियापद या कारक चिन्हों के संस्कृत रूप दे दिया जायगा। देशज या तद्भव शब्द भी धीरे-धीरे हटाये जा रहे हैं! बड़े कौशल से यह प्रयत्न जारी है। हम जोर देकर कहना चाहते हैं, हिन्दी के लिए यह परम दुर्भाग्य की बात हो रही है। उसकी भी वही गत होगी, जो सस्कृत की हुई। हमें याद रखना चाहिये, संस्कृत इसलिए नष्ट नही हुई कि विदेशियो ने उसे दरबार से हटाया; उसका विनाश तो उसके पहले शुरू हो गया था, जब जनता ने उसे छोड़ दिया था। बुद्ध और महावीर ने उसे क्यों छोड़ा—क्योंकि वह जनभाषा नहीं रह गई थी? शंकर ने बौद्धधर्म का उच्छेद किया, किन्तु वह भी संस्कृत को पुराने पद पर नही बिठा सके! हिन्दी तभी तक जीवित है, जब तक उसमें भिन्न-भिन्न मूलों से शब्द आते और पचते रहेगे। जब वह संस्कृत बन जायगी, वह भी मर के रहेगी, भले ही कुछ प्रोफेसर कालेजों में उसकी रट लगाते रहें या कुछ राज्य-पुरुष उसमें अपनी घोषणाएँ निकालते रहें! ऐसी घातक प्रवृत्तियों से हिन्दी की रक्षा होनी चाहिये।

अब हिन्दी सिर्फ अपने देश के अहिन्दी भाषियों में ही नहीं सीखी जा रही है; विदेशों में भी इसके सीखने के लिए होडा-होड़ी लगी है।

यूरोप के प्रायः सभी प्रमुख विश्वविद्यालय में हिन्दी की पढ़ाई शुरू करदी गई है। किन्तु वे बेचारे क्या सीखेंगे, यदि हम हिन्दी का रूप यों दिन-दिन बदलते जायेंगे ! जहाँ आवश्यकता थी हिन्दी के वर्तमान रूप में स्थिरता लाने की ; वहाँ उसके स्थिर रूप को भी हम दिन-दिन अस्थिर करते जा रहे हैं !

मुझे आश्चर्य तब होता है, जब हम देखते हैं, कुछ राजनीतिज्ञों और उनसे सेवित आचार्यों द्वारा ये अनर्थ हो रहे हैं और हम टुकुर-टुकुर ताक रहे है ! क्या इसके विरोध में आवाज उठाना हमारा कर्तव्य नही है ?

२१

साहित्य और सत्ता

सरस्वती और लक्ष्मी में वैर है। सत्ता लक्ष्मी की पुत्री है। फिर यदि वह साहित्य की उपेक्षा करे, तो आश्चर्य क्या ?

किन्तु साहित्य का कुछ ऐमा जादू है जो सत्ता के भी सर पर चढ़ कर बोलता रहा है। कालिदास, वाणभट्ट, विद्यापति, भूषण आदि की परम्परा जग-जाहिर है। सरस्वती के इन सपूतों की साहित्य-साधना ने लक्ष्मी-वाहन सत्ताधारियों को भी वह महत्ता दे दी, जो सिर्फ सत्ता से उन्हें प्राप्त नहीं हो सकती थी। सामंतवादी युग में साहित्य और सत्ता का यह गठबंधन संसार के कई भागों में बड़े सुन्दर रूप में विकसित होते देखा गया।

पूँजीवाद के प्रारम्भ में बात बदली। जैसा मार्क्स ने कहा था, इसने साहित्य, कला आदि सबको बाजार का माल बना दिया। साहित्यकार को भी लाचार होकर एक साधारण दुकानदार बन जाना पड़ा—पोथी-पत्रा लेकर बैठे रहिये और खरीदार का इन्तजार कीजिये, खरीदार भी कैसा—जो हर चीज को छटाँक, सेर और मन में तौलता हो और पैसे, आने, रुपये में, बड़ी कंजूसी से चुकाता हो !

किन्तु धीरे-धीरे यह स्थिति भी करवट लेने लगी। साहित्य ने वह विस्फोटक रूप धारण किया, कि सत्ता भयभीत हुई। अब वह साहित्य को लुभाने और फुसलाने की चेष्टा करने लगी। वह इसमें सफल भी हुई। ब्राउनिंग की "खोया हुआ नेता" शीर्षक कविता इस स्थिति का स्पष्ट उदाहरण है। ब्राउनिंग की इस कविता के आईने में यदि आज के कतिपय साहित्य-महारथी अपने चेहरे देखें, तो निस्सन्देह वे घबड़ा उठेंगे !

इसको इस रूप में भी रखा जा सकता है कि यह तो सत्ता द्वारा साहित्य का सम्मान-प्रदर्शन-मात्र है। काश, यदि यही बात होती !

साहित्यिकों ने इस पर सन्तोष की साँस ली है कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद इस देश की सत्ता साहित्य की ओर उन्मुख हुई है। केन्द्रीय शासन से लेकर भारत के प्रायः सभी राज्यों के शासन ने इस ओर ध्यान दिया है। साहित्यिकों को पुरस्कार मिल रहे हैं, वृत्तियाँ मिल रही हैं। सत्ता द्वारा साहित्य-संस्थाएँ खोली जा रही हैं, पुस्तकें प्रकाशित की जा रही हैं, खरीदी जा रही हैं। यही नही, विधान-परिषदों में, राज्यसभा में साहित्यिकों को स्थान दिया जा रहा है। जाने-माने साहित्यिकों को सत्ता ने उनके योग्य पदों पर पदाधिकारी बनना भी प्रारम्भ किया है।

शारदा के ये सपूत, जो कल तक फटेहाली में जिन्दगी बसर कर रहे थे, जब सत्ता की कृपा से कुछ खुशहाल नजर आते हैं; उनके शरीर पर हम अच्छा वस्त्र और उनके चेहरे पर कुछ ललाई पाते हैं; तो हमारा खुश होना लाजिम हो जाता है। अरे, चलो, इतना तो हुआ ! आगे देखा जायगा !

हम इस हँसी-खुशी में इतना विभोर हैं कि यह भी नही सोचा जा रहा है कि क्या यह स्थिति साहित्य की मर्यादा और श्रीवृद्धि के लिए वाँछनीय है ? यदि कोई आवाज उठाये, तो "अंगूर खट्टे है" कह कर अट्टहास करने वालों की भी कमी नही होगी !

आज कहा जा रहा है कि साहित्य में गत्यवरोध है ! प्रमाण में कहा जाता है, देखिए, "गोदान" और "कामायिनी" के बाद, हिन्दी साहित्य ने कौन-सी बड़ी देन दी ? किन्तु यह नहीं सोचा जा रहा है कि ऐसा हुआ क्यों ? संयोग देखिये, १६३७ में देश के अधिकाँश अंचलों में स्वदेशी सत्ता का श्रीगणेश हुआ और यही समय है, जब से साहित्य के गत्यवरोध का भी श्रीगणेश होता है।

स्वदेशी सत्ता प्रारम्भ से ही साहित्य और साहित्यिकों की ओर उन्मुख हुई और अब तो धीरे-धीरे वह इस क्षेत्र पर पूर्णतः छा गई ! जहाँ सत्ता के इस स्नेह और कृपा का यह फल होना चाहिये था कि साहित्य का दिन-दिन विकास होता, वहाँ उसे गत्यवरोध का यह ग्रहण क्यों लग

गया ? क्या बात है कि जहाँ हमारे गालों पर थोड़ी ललाई दौड़ने लगी है, वहाँ साहित्य दिन-दिन पीला पड़ता जा रहा है ! हमारे कलेवर की ही तरह उसके कलेवर में चर्बी और मांस के लोथड़े तो बढ़ रहे हैं, किन्तु वह स्फूर्ति, वह तेज, वह पौरुष कहाँ चला गया ?

यह नहीं कि साहित्य बढ़ नही रहा है। बढ़ रहा है बड़ी तेजी से, बट-वृक्ष की छाया में बढ़ने वाले बिरवे की तरह दिन दूना रात चौगुना। और वैसा ही पीला-पीला, पोपला-पोपला, प्राणहीन, स्पन्दनहीन।

इस लालन-पालन के बीच साहित्य का यह हाल क्यों हुआ ? हमें सोचना होगा। कोई पौधा नही बढ़ रहा है या अवांछित रूप में बढ़ रहा है तो सोचना पड़ेगा कि उसकी खुराक में, खाद पानी में, वातावरण में कौन सी कमी या खामी आ गई है। सिर्फ हाय-तोबा मचाने से क्या होता है ?

साहित्य का आदि-स्रोत कहाँ है ? क्या वह समझाने की बात रह गई है कि उसका सच्चा स्रोत तो है साहित्यिक का वह विकल-विह्वल, भावनाओं से उफनाना, विचारों की तरंगों से आड़ोलित मानस-सागर, जो पृथ्वी पर होने पर भी आकाश को, उसके पूर्णचन्द्र को चूमने को हर क्षण लालायित रहता है !

उसके ज्वार और भाटे का अपना नियम है। आकाश में अनेक बिजली के डंडे टँगवा दीजिये, जो पूर्णचन्द्र से भी अधिक रोशनी दे सके, उसमें ज्वार आप ला नही सकते। बड़ी-से-बड़ी नदियों की धाराएँ भी उसके जल की सतह में घट-बढ़ ला नहीं सकती। मन्दराचल की अनेक मथनियों से उसे मथिये, उसके वीचि-विलास में कोई अन्तर नहीं आ सकेगा ! वह अपने नियम का अनुसरण करेगा ! आपके ये सारे कृत्रिम उपाय व्यर्थ जायँगे, व्यर्थ जायँगे। यही नही, ऐसे उपाय प्रायः ही उलटा फल लायँगे !

गोर्की रूस की क्रान्ति के बाद भी जिन्दा रहा। रूस की नई क्रान्तिकारी सत्ता को उसने अपना पूर्ण समर्थन दिया। सत्ता ने भी उसे सम्मानित करने और उसके विश्वव्यापी नाम का उपयोग अपने पक्ष में करने की एक चेष्टा उठा नहीं रखी। सत्ता उसमें सफल हुई किन्तु क्रान्ति

के बीस वर्षों तक जीवित रहने पर भी गोर्की कोई रचना दे सका उसके पहले के यश को बढ़ा सके ? हम दावे के साथ कह सकते हैं, यदि प्रेमचन्द और प्रसाद जीवित होते और हमारी वर्तमान सत्ता उन्हें वही सम्मान दे पाती जो गोर्की को प्राप्त हुआ था तो वह भी दूसरा "गोदान", दूसरी "कामायिनी" नहीं दे पाते ! हमारे जो साहित्य-महारथी आज सत्ता से सम्मानिक या प्रतिपालित हो रहे हैं, उन्होंने ही क्या दिया था और क्या दे रहे हैं, उनकी तुलना कर देखिये ।

विटामिन गोलियाँ कुछ चर्बी ला दें, बनावटी सुर्खी ला दें, पूर्ण स्वास्थ्य का वरदान वे नहीं दे सकतीं । पूर्ण स्वास्थ्य सिर्फ अच्छा भोजन ही नहीं खोजता, वह कुछ मेहनत; कुछ मशक्कत भी खोजता है । और सबसे बढ़कर खुली, निर्बंध, स्वच्छ वायु भी । और क्या यह सच नहीं कि सत्ता के समीप सबसे बढ़कर इसी की कमी होती है, खास करके नई सत्ता के निकट, जो सदा इसी आशंका में रहती है कि कोई तूफान आकर उसको जड़ से ही नहीं उखाड़ फेंके !

तो क्या हम यह चाहते हैं कि सत्ता साहित्य की ओर ध्यान नहीं दे ? यह तो अजीब ऊटपटाँग बात हुई कि सत्ता इस ओर ध्यान नहीं दे, तो उसे गालियाँ दो और जब वह ध्यान दे, तुम्हें सम्मान दे, भोजन दे, साधन दे, तो भी उसे कोसो ! क्या तुम यह मानते हो कि दोनों का मिलन, समन्वय, गठबंधन सम्भव ही नही ?

यदि हम ऐसा समझते, तो पहले सामन्तवादी युग के उस सुन्दर गठबन्धन का उल्लेख क्यों करते ?

गठबन्धन सम्भव है, यदि साहित्य के उस मूल स्रोत पर ध्यान देकर किया जाय । वह पूर्णिमा लाई जाय, पूर्णचन्द्र उगाया जाय, जिसे देख-कर उस मानस-सागर में स्वयं ज्वार तरंगित हो उठे ! उसके लिए सबसे पहली शर्त यह है कि सत्ता समझ ले, साहित्य उसका दास नहीं बन सकता । सरस्वती कभी लक्ष्मी की चेरी नहीं बन सकती ! भोज, हर्ष, शिवसिंह या छत्रसाल बनो, तभी कालिदास, बाणभट्ट, विद्यापति या भूषण की वाणी तुम्हारी छत्रछाया में भी मुखरित हो सकेगी ।

क्या आज का कोई छोटा-मोटा सत्ताधारी भी छत्रसाल की तरह

हमारे महारथियों की पालकी में कंधे लगाने को तैयार होने की बात तो दूर रखिये, उन्हें बराबर का आसन देने को भी तैयार है ? विद्यापति और शिवसिंह की अभिन्नता आज के सत्ताधारी और साहित्यिक में क्या सम्भव है ? वाण का बाँकपन आज का कौन हर्ष बर्दाश्त करेगा ? कालिदास की नाजबरदारी कौन भोज उठा सकेगा ?

हमारी सत्ता की रक्षा के लिए सदा हाथ उठाये रहो, हमारे यश की गाथा के गीत चारण बनकर देश-विदेश में सदा गाते फिरो, कभी कदाचित्, कही बहक भी जाओ तो भीतर आकर दाँत निपोड़ कर क्षमा माँगो। या फाइलें ढोया करो, हमारे ऊँचे पदाधिकारियों की वन्दना किया करो, कर्मचारी बने हो, तो कार्यालय के अदब-कायदे सीखो। क्या यह साहित्य का सम्मान है ? क्या यही वह पूर्णचन्द्र है जिसे देख-कर कवि मानस में ज्वार उठ सके ?

फिर साहित्यकार का मानस बहुत संवेदनशील भी होता है ! कालिदास, वाण, विद्यापति या भूषण को भी एक ही साथ महलों का वैभव-विलास देखने और बाहर की जनता का हाहाकार सुनने को मिलता—तो क्या वे हमें वैसी स्वर्गिक रचनाएँ दे पाते ! द्विधा में क्या उनकी वाणी ही रुद्ध नहीं हो जाती ? यदि अगत्या उन्हें कुछ रचना ही पड़ता, तो हम क्या उनकी रचनाओं में वह जीवन पाते, जो सदियों के बाद भी आज पद-पद पर नूतन-ही-नूतन लगता है !

हम उन लोगों में नही, जो साहित्य को समाज से पृथक कोई किंभूत किमाकार वस्तु मानते हैं। साहित्य समाज की देन है; साहित्यिक भी समाज का एक अंग है। जब समाज एक नई रचना में लगा हो, तो उसमें साहित्य को सहयोग देना ही चाहिये। उसकी उपेक्षा कर साहित्य नहीं रह जायगा।

सत्ता भी समाज की एक संस्था है, खासकर जब वह जनतंत्रात्मक सत्ता हो। उस सत्ता के सहयोग द्वारा भी समाज की सेवा की जाती है।

किन्तु उस सहयोग का रूप क्या हो ? उस रूप का निर्णय कौन

करेगा ? इस सहयोग के सिलसिले में साहित्य और सत्ता का सम्बन्ध क्या हो ?

फिर, साहित्य को यह भी सोचना पड़ेगा कि सत्ता से अलग भी समाज का एक बहुत बड़ा अंग है। क्या उसकी सेवा भी उसका कर्तव्य नही है ? और, यदि सत्ता और समाज के उस बड़े अंग की सेवा में विरोधाभास पैदा हो जाय, तो वह किसकी सेवा को प्रमुखता दे ?

सत्ता ने साहित्य से सहयोग का जो रूप हमारे सामने रखा है, वह न योग्य है, न वांछनीय। खरीदा हुआ गुलाम या वजीफा पर पलनेवाला दरबारी बनाकर सत्ता जब साहित्यिक को अपनाती है, वह अपने को धोखे में रखती है—क्योंकि सत्ता ने ज्योंही ऐसा किया, साहित्य उस साहित्यिक को छोड़कर दूर खड़ा हो जाता है। सरस्वती लक्ष्मी का यह अपमान सह नहीं सकती। ऐसा करके सत्ता अपना लाभ तो कुछ कर नहीं पाती, समाज की बहुत बड़ी हानि कर बैठती है क्योंकि सरस्वती द्वारा परित्यक्त और अभिशापित वह साहित्यिक समाज के लिए जीवित रहता हुआ भी मृतक बन जाता है।

साहित्य का सहयोग लेना चाहते हो, तो उसे उन्मुक्त रहने दो। उसे खुलकर बोलने दो, गाने दो। तुम अच्छा करते जाओगे, वह तुम्हारी यशोगाथा स्वयं गायगा। उसकी वाणी को खरीदने या फुसलाने की कोशिश मत करो, मत करो।

तुम साहित्य या साहित्यिक का सम्मान या उसकी सहायता करना चाहते हो, उसके अनेक तरीके हैं। आज के तुम्हारे तरीके उन्हें या तो क्रीत या चाटुकार बनने को बाध्य करती है।

और, हम साहित्यिकों से कहेंगे, मित्रो, सत्ता यदि जाने या अनजाने भूल करे, तो उसके भूलभुलैया में क्यों फँसो। सत्ता को यदि किसी कारण वश सहयोग न दे सको, तो समाज के उस बड़े अंश की वाणी बनो, जो मूक है, जिह्वा रख कर भी जो बोल नहीं पाता। उसकी वाणी बन कर तुम अप्रत्यक्ष रूप से सत्ता का भला ही करोगे ! यदि आज के सत्ताधारी यह नहीं समझते, तो तुम नासमझी क्यों करो ?

२२

साहित्यिको, विद्रोही बनो !

यह नारा मेरा नही, यह नारा है आधुनिक अँगरेजी साहित्य के सुप्रसिद्ध महारथी जे० बी० प्रिस्टले का। और यह नारा उन्होंने हाल ही में संसार के साहित्यिकों को दिया है।

श्री प्रिस्टले कोई नौजवान आदमी नहीं। कोई गैरजिम्मेदार आदमी भी नहीं। वह एक सुप्रतिष्ठित पुरुष माने जाते हैं। उनके साहित्य में संयम है, उनके चिन्तन की धारा में गम्भीरता है। अब उनकी उम्र भी ऐसी है कि सिर्फ भावना-मय उद्‌गार उनके लिए शोभनीय नहीं माना जा सकता।

अतः जब उनको ऐसा आदमी कहता है, साहित्यिकों को विद्रोही बनना चाहिये, तो स्वभावतः ही उस पर विचार करने को बाध्य होना पड़ता है।

लेखकों की एक सभा में प्रिस्टले ने ऐसा कहा है। उनका पूरा भाषण छपा नही है; जिससे उनकी विचार-सरणि का पता चले। किन्तु, सिर्फ एक यह वाक्य भी संसार के साहित्यकारों के लिए सोचने-विचारने की सामग्री प्रस्तुत करता है।

प्रिस्टले अपने सहकर्मी बन्धुओं को ऐसी सलाह क्यों दे रहे हैं?

थोड़े दिन हुए, एक सहकर्मी बन्धु से मैं बातें कर रहा था। एक विचित्र बात है, उन्होंने भी यही राय प्रकट की थी—भई, और कुछ तो हम से बन पड़ता नहीं, तो कम-से-कम विद्रोह की आवाज तो बुलन्द करते रहें!

मेरे बन्धु अपने देश की परिस्थिति से निराश थे, यह स्थिति बर्दाश्त के लायक नहीं। इसके बदलने के लिए जो ताकतें आगे बढ़ सकती थीं,

वे भी गलत रास्ते पर जा रही हैं। अब किया क्या जाय ? साहित्यिक क्या करे ? विद्रोह ? विद्रोह की आवाज ऊँची से ऊँची करता जाय, तो उसका कर्त्तव्य पूरा हो जाता है, ऐसी मेरे मित्र की धारणा थी।

जो हमारे देश की हालत है, संसार की भी तो वैसे ही हालत है ! जिस बात को मेरे मित्र ने अपने देश के लिए कहा, प्रिस्टले ने उसी को अपने सहकर्मियों से कहा और चूकि उनकी वाणी में मेरे मित्र की वाणी से अधिक ताकत है, वह संसार में फैल रही है !

और वह फैल रही है इसलिए भी कि इस वाणी में युग-वाणी पिरोई हुई है !

दो महायुद्धों की समाप्ति के बाद फिर तीसरा महायुद्ध दरवाजा खट-खटा रहा है। संसार दो गुटों में बँट चुका है। एक गुट जब-जब अटम बम का परीक्षण करता है, उसका धुँआ दूसरे गुट को कितना भयभीत करता है, भगवान् जानें, सारा संसार तो भय-कम्पित हो ही उठता है !

यों ही दूसरे गुट और उसके एजेण्टों की ओर से जब-जब कबूतर उड़ाये जाते हैं, उन कबूतरों को लोग शान्ति के चिन्ह नहीं समझ कर मानव-कबूतरों की बलि चढ़ाने के दिन की निकटता के ही सूचक मानते हैं और कबूतर की तरह ही उनका दिल धक-धक करने लगता है।

और सबसे बड़ी बात यह कि इन दोनों गुटों की ओर से जब ऐसी चेष्टाएँ होती हुई दिखाई पड़ती हैं कि तीसरा महायुद्ध एशिया में ही लड़ा जाय, जिसमें गोरी कौम सुरक्षित रहे और रंगीन कौम का ही सर्वनाश हो, तो एशिया के लोगों की धुकधुकी क्यों न बंद होने लगे ?

फिर हर देश में ऐसे व्यक्ति, ऐसी संस्था, ऐसे वर्ग सिर उठा रहे हैं जो मानवता को कुचलने, मानव मूल्यों को नष्ट करने, मावनीय आदर्शों को मिट्टी में मिलाने पर तुले हुए हैं ! कोढ़ में खाज यह है कि अपनी घृणित मनोकामनाओं की पूर्ति के लिए ये ऐसे शब्दजाल गढ़ते हैं कि अब लोगों का शब्दों पर से विश्वास उठता जा रहा है। कभी शब्द ब्रह्म रहा हो, अब उनके हाथों वह पिशाच बन गया है !

ऐसी स्थिति में साहित्यकार क्या करे ? क्या वह चुपचाप प्रलय की प्रतीक्षा करता हुआ, बैठा रहे ? क्या वह शुतुरमुर्ग की तरह बालू के

अन्दर सिर घुसा कर यह कल्पना करे कि कम-से-कम में तो सुरक्षित हूँ ?

यदि साहित्यकार ऐसा करे, तो फिर वह साहित्यकार नहीं। मानवता का शृंगार है वाणी, वह वाणी का वर-पुत्र है। जब मानवता कसाइयों द्वारा जिबहखाने में भेजी जाने वाली गायों की तरह रँभा रही हो, मौन आँसू बहा रही हो, तो कम-से-कम उसे ऊँची आवाज में चिल्लाना तो चाहिये ही कि तुम यह क्या करने जा रहे हो ?

"मा निषाद" की परम्परा भूल कर हम साहित्यकार, साहित्यकार रह नहीं सकते !

उस दिन एक निरीह सारस पर चलाये गये तीर पर आदिकवि की जो वाणी जंगल में गूंजी थी, आज वह गली-गली, गाँव-गाँव गूँजे।

मानवता के इन शत्रुओं को हम पुकार-पुकार कर कहें—तुम हत्यारे हो, तुम जल्लाद हो, तुम मानवता के शत्रु हो, तुम दानवता के रूप हो। तुम पर अभिशाप पड़ेगा, तुम्हारा नाश हो !

यह विद्रोह की वाणी है; प्रिस्टले ने हम लोगों का आह्वान इसलिए किया है ! क्या इस आह्वान को हम सुनेंगे ?

यों तो संसार के सभी साहित्यकारों का युग-धर्म है कि वे विद्रोह की आवाज़ बुलंद करें, किन्तु हिन्दी के साहित्यकारों के लिए तो यह एक अनिवार्य कर्त्तव्य हो गया है !

हम पर चारों ओर से प्रहार हो रहा है !

हमारी भाषा छीनी जा रही है, हमारी लिपि छीनी जा रही है ! राष्ट्रभाषा के नाम पर, लिपिसुधार के नाम पर हमसे उस परम्परा को ही छीन लिया जा रहा है, जो हमारी पैतृक सम्पत्ति थी !

एक ऐसी लिपि गढ़ी जा रही है कि यदि उसका प्रचार हुआ, तो दूसरी पुश्त से ही प्रेमचंद से लेकर सरहपा तक का सारा साहित्य हमारे लिए काला अक्षर भैंस बराबर हो जायगा !

सबसे बड़े दुख की बात यह है कि हमारे कुछ मनचले राजनीतिज्ञों की दिमागी बहक के फेर में हमारे कुछ "आचार्य" भी पड़ गये हैं ! ये "आचार्य", जो जीवन-भर मुख्यतः नौकरी का पेशा करते रहे और

मालिकों की मर्जी पर नाचते रहे, आज अपने नये मालिक की मर्जी पर नई लिपि, नई भाषा गढ़ने पर तुले हैं !

ये पैर की माप से जूते बनाने वाले कारीगर नहीं हैं, ये तो जूते की माप पर पैरों को तराशने, काटने-छाँटने वाले आधुनिक टेक्नीशियन हैं !

. नागरी में अधिक अक्षर हैं, अधिक मात्रायें हैं, ये मात्रायें नीचे-ऊपर, आगे-पीछे भागती हैं—नहीं, नहीं, यह बुरी बात हुई, देखिये, रोमन को—अहा, २६ अक्षर और उसी में सब कुछ समाप्त ! अतः नागरी का रोमनीकरण करो—उसे काटो, छाँटो, यदि उसका रूप बिगड़ता है, तो बिगड़ने दो, उसकी आत्मा मरती हो, तो मरने दो !

मैं स्पष्ट कहूँ, इनसे वे लोग ज्याद ईमानदार थे, जो हिन्दी को रोमन-लिपि में लिखने के पक्षपाती थे !

पूछिये, इस रोमनीकरण से क्या फायदा ? तो कहेंगे, छपाई में, टंकाई में इससे आराम रहेगा ! इन "आचार्यों" को इतना भी मालूम नहीं कि टंकन की मशीन में ऐसे सुधार हो गये है कि वर्तमान नागरी को भी उसी गति से छापा जा सकता है, जैसी गति में रोमन को !

किन्तु, नहीं, इन्हें तो अपने मालिकों के सामने अपना आचार्यत्व दिखाना है—आपकी आज्ञा, लीजिये, यह नई लिपि तैयार !

और लिपि के साथ भाषा में भी सुधार लीजिये—जो चाहिये, वह लीजिये—"हम तो सदा आपके परम आज्ञाकारी सेवक" रहे हैं !

हमें इन "आचार्यों" और उनके "आकाओं" के खिलाफ आवाज उठानी है ! हमें स्पष्ट कहना है—हम अपनी भाषा और अपनी लिपि को बर्बाद करने नहीं देंगे !

हिन्दी भाषा और नागरी लिपि पर ऐसा संकट कभी नही आया था, जैसा आज आया है ! जो साहित्यकार अपनी भाषा और लिपि की रक्षा में नहीं उठता है, मैं कहूँ, उस पर भी अभिशाप लग कर रहेगा, लगकर रहेगा !

२३

नेपाल की कवि-वन्दना !

रथ में दो रस्से लगे हैं और उन रस्सों के सहारे रथ को खींच रहे हैं—

नेपाल-सरकार के प्रधान-मंत्री, गृह-मंत्री, शिक्षा-मंत्री, यातायातमंत्री, सलाहकार-सभा के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, भिन्न-भिन्न दलों के नेता, सभी छोटे-बड़े लेखक और कवि। आगे-पीछे पुलिस और सैनिकों की कतार। बीच में अपार भीड़। राष्ट्रीय बाजे बज रहे हैं, नारे लग रहे हैं !

और, उस रथ पर कौन बैठा है ?

वर्तमान नेपाली साहित्य का वृद्धवषिष्ठ आचार्य। ७१ वर्ष की आयु। सुफेद दाढ़ी हृदय-प्रदेश को छू रही। किन्तु चेहरे पर भोलापन; आँखों में मासूमियत। मालाओं से लदे हैं।

"यह मेरा सम्मान नहीं; माँ शारदा का सम्मान है।" अभी-अभी एक अपरिचित साहित्यिक से गले मिलते हुए उन्होंने कहा !

नेपाल—स्वतंत्र नेपाल, प्रजातांत्रिक नेपाल के इतिहास में यह दिन ४ जनवरी, २० पौष, सदा अमर रहेगा ! क्योंकि, उसने यह सम्मान अपने एक साहित्यिक के प्रति प्रदर्शित कर एशिया के छोटे-बड़े सभी देशों के लिए पथ-प्रदर्शन का काम किया है।

अभी तक राजपुरुषों के ही जुलूस निकलते हैं—उन्हीं के रथ को नेता-जनता सभी खींचते रहे हैं। नेपाल के राजपुरुषों ने, नेताओं ने, एक नई पद्धति का श्रीगणेश किया है। यह देश-देश में फैले।

प्रजातन्त्र कितनी ही वांछित और अवांछित शक्तियों को उभाड़ा करता है। नेपाल भी इसका अपवाद नहीं है।

प्रजातंत्र के बाद नेपाल में साहित्य के जागरण का एक अभूतपूर्व

जोश पैदा हुआ। आज से दो वर्ष पहले उसने अपने आदि-कवि "भानु-भक्त" की जयन्ती धूमधाम से मनाई। भानुभक्त की रामायण नेपाल-भर में उसी तरह प्रसिद्ध है, जिस तरह उत्तरभारत में तुलसीदास जी का रामचरितमानस। नेपाल के लाखों लोग अक्षर-ज्ञान की ओर इसलिए प्रवृत्त होते रहे हैं, जिसमें वह भानुभक्त की रामकथा का रसपान कर सकें। फिर उसने मोतीराम भट्ट की जयन्ती मनाई।

उसी जयन्ती के अवसर पर यह विचार हुआ कि जीवित कवियों का भी अभिनन्दन किया जाय और इसका प्रथम सौभाग्य पाने को पं० लेख-नाथ जी विद्यमान थे ही। सचमुच लेखनाथजी के इस भाग्य पर किसी भी भाषा के जीवित साहित्यिक को ईर्षा हो सकती है!

क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि दिल्ली में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त का अभिनन्दन हो और उनका रथ पं० जवाहरलाल नेहरू खीचें? या मध्यप्रदेश में पं० माखनलाल चतुर्वेदी का, उत्तर प्रदेश में बाबूराव विष्णु पराड़कर का, बिहार में शिवपूजन सहाय का, विन्ध्य प्रदेश में बनारसीदास का अभिनन्दन किया जाय और सर्वश्री रविशंकर शुक्ल सम्पूर्णानन्द, श्रीकृष्णसिंह, या शम्भुनाथ शुक्ल उनके रथ के रस्से में हाथ भी लगायें। बँगाल, मद्रास, बम्बई में भी यह दृश्य देखने को आपकी आँखें ललचाई ही रह जायँगी! छोटे-छोटे प्रान्तों की क्या बात?

पं० लेखनाथजी ने जो यह सौभाग्य प्राप्त किया है, वह अपनी सतत साहित्य-साधना के द्वारा। पचास-साठ वर्षो से वह माँ शारदा की आराधना करते आये हैं। नेपाली साहित्य को उन्होंने सात्त काव्यग्रंथ, सैकड़ों उत्कृष्ट कविताएँ, एक नाटक और पंचतंत्र का अनुवाद ही नहीं दिया है, नेपाली भाषा के परिष्कार में भी उनका अनुपम हाथ रहा है। नेपाली भाषा का आज का जो साहित्यिक रूप है, उसके जनक आप ही हैं, नेपाली साहित्यिक उन्हें अपनी भाषा का भारतेन्दु हरिश्चन्द्र मानते हैं।

श्री लेखनाथ जी के काव्यों में नेपाली जनता ने अपने हृदय और मस्तिष्क के सारे ऊहापोहों की प्रतिच्छाया पाई है। अपने प्रथम काव्य में ही उन्होंने कुछ शाश्वत प्रश्न नेपाल की जनता के सामने रखे, जो

उसके होठों पर आज भी गुनगुना रहे हैं, किन्तु जिनका समाधान मानव मस्तिष्क ने आज तक नही दिया है—

कहाँ थियो वास अभी म को थियो
कसे हुदों यो पिंजड़ा लिदो भयें
कहाँ छ जानु पुन साथ लीकन
तलाई मालूम छ कियो कुरा मन

तेरा वासस्थान कहाँ था ? तुम अभी कहाँ हो ? तुम क्यों इस पिंजड़े में आ फँसे हो ? तुम्हें फिर कहाँ जाना है—अरे, मेरे बापुरो मन, तुम्हें मालूम है क्या ?

यों ही "ऋतु विचार" में उन्होंने छः ऋतुओं का मनोहारी वर्णन दिया है, "सत्य-कलिसंवाद" में अपनी अवधि समाप्त कर जाते हुए कलियुग से आगत सत्ययुग की बातें करवाई हैं, "सत्यस्मृति" में गाँधीजी की मृत्यु के बाद उनकी विमल यशोगाथा गाई है और "मेरो रामू" में हमें "कामायिनी" की सी एक झलक मिलती है। "लक्ष्मी-पूजा" नामक अपने नाटक-द्वारा नेपाल में बहुलता से प्रचलित जुए की प्रथा पर आपने गहरी चोट की है। आपकी फुटकर कवितायें तो असख्य हैं, जिसमें से कुछ का संग्रह "लालित्य" नाम से हुआ है। "पिंजडो को पंछी" आपकी वह कविता है, जो नेपाल के वृद्ध-बालक सबकी जिह्वा पर है !

७१ वें वर्ष में भी कवि की प्रतिभा अभी कुठित नही हुई है। अभी नेपाली साहित्य उनसे बहुत बड़ी आशा रखता है। इस सम्मान-प्रदर्शन द्वारा मानों उसने उनकी ओर फिर भिक्षा की झोली बढ़ाई है और नेपाल की तरुण साहित्यिक पीढ़ी ने उनसे असीस की कामना की है, जो उसे उनके द्वारा सदा प्राप्त होती रही है !

नेपाल को प्रकृति ने जैसे अपने हाथों से सँवारा है—हिमालय की इस निर्भृत उपत्यका में बैठ कर, बड़ी निश्चिन्तता से, बड़ी सुघड़ता से, बड़े नाजो-अदा से। स्वभावतः ही यहाँ साहित्य और कला का चरम विकास हुआ है। नेपाल में भिन्न-भिन्न जातियों और धर्मो का अपूर्व समन्वय होता रहा है। उन सबका असर वहाँ के साहित्य और कला पर पड़ा है और वे अद्भुत बहुरंगी बन गये हैं ! जिस तरह पत्थरों और काष्ठों

में उनकी कला खिली; उसी तरह ताल-पत्रों और भोज-पत्रों पर उनके साहित्य ने अपनी अमर निधि बिखेरी। अभी वहाँ आप सात-आठ सौ वर्षों की पुरानी पोथियाँ सबूत पायँगे। जब कभी ये पोथियाँ प्रकाशित हो पायँगी, भारतीय साहित्य का भंडार और भी सम्पन्न हो सकेगा। भारत में जो साहित्य लुप्त हो गया है, वह वहाँ सुरक्षित है। हिन्दी-साहित्य की भी बड़ी निधियाँ वहाँ भरी-पड़ी हैं।

नेपाल की भिन्न-भिन्न जातियों की भिन्न-भिन्न भाषायें हैं, उनमें मुख्य हैं—नेपाली भाषा, नेवारी भाषा और हिन्दी भाषा। नेवारी भाषा को नेपाल भाषा के नाम से अब पुकारा जाता है। इन सब की पुरानी निधियाँ तो वहाँ हैं ही, इनका विकास भी वहाँ सदा होता रहा है। काठमाँडू उपत्यका में मुख्यतः नेवारी और नेपाली भाषाओं का ही चलन है। इनमें नेपाली भाषा की प्रगति सबसे अधिक हो रही है, क्योंकि वह लगभग दो सौ वर्षों से राज्य-भाषा भी रही है।

नेपाली भाषा के सबसे प्रसिद्ध कवि हुए हैं श्री भानुभक्त जी। भानुभक्त की रामायण वहाँ इसी प्रकार प्रचलित है, जिस प्रकार अपने यहाँ तुलसी-दास की रामायण। साधारण जनता भानुभक्त की रामायण पढ़ने के लिए ही अक्षर-ज्ञान प्राप्त करती है। इस काव्य में नेपाली जनता अपने सारे मनोभावों की छवि पाती है और इसे पढ़ते हुए अघाती नहीं है। भानुभक्तजी के बाद मोतीराम भट्ट जी का नाम आता है। मोतीरामजी की शिक्षा काशी में हुई थी। उन्होंने ही प्रथम-प्रथम भानुभक्तजी की रामायण छपवाई। नेपाली साहित्य की उनकी अपनी देन भी अपूर्व है।

नेपाली साहित्य दिन-दिन उन्नति करता गया। लेखनाथजी पुरानी परम्परा की अन्तिम कड़ी हैं। अब वहाँ का साहित्य एक नई करवट ले रहा है। इस करवट के तीन अग्रदूत हैं—सिद्धिचरण जी, बालकृष्ण सम और लक्ष्मीप्रसाद देवकोटा। सिद्धिचरण जी में प्राचीन परम्परा की अब भी झलक है, किन्तु उन्होंने नवीन युग के सन्देश को सुना है और उनके साहित्य में प्रगतिशीलता का सुन्दर सम्मिश्रण है। बाल-कृष्णजी सम को हम नेपाली साहित्य का "प्रसाद" जी कह सकते हैं। उनके नाटकों में वैसी ही उद्धात्त भावनाएं हैं। कवि भी उच्चकोटि के

हैं और साथ ही चित्रकार भी। अद्भुत प्रतिभा पाई है उन्होंने। देवकोटा जी तो प्रगति का सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं।

श्री भीमनिधि तिवारी, माधव प्रसाद घिमिरे और केदारमान जी व्यथित को दूसरी त्रयी में सम्मिलित किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त सर्वश्री सोमनाथ, चक्रपाणी, कुलचन्द, श्यामदास, जनार्दन आदि की कविताओं, सर्वश्री विश्वेश्वर प्रसाद कोइराला, गोविन्द गोठाले, भवानी भिक्षु, केसवराज पिंडाली, सुरेन्द्र बहादुरशाह, गुरुप्रसाद मेनाली आदि की कहानियों, सर्वश्री रुद्रराज पांडेय, रत्नधर जोशी, बाबूराम आचार्य आदि के निबन्धों और ईश्वर बराल, यदुनाथ खनाल, हृदयचन्द्रसिंह, सूर्यविक्रम आदि की आलोचनाओं से नेपाली का साहित्य दिन-दिन समृद्ध हो रहा है। वहाँ की विधान-सभा के अध्यक्ष श्री बालचन्द्र शर्मा जी ने नेपाल को एक ऐसा राष्ट्रीय इतिहास दिया है, जिसपर नेपाली भाषा गर्व कर सकती है।

मासिक पत्र-पत्रिकायें भी अधिकाधिक निकलती जा रही हैं। "शारदा" नेपाली भाषा की सबसे पुरानी और प्रख्यात पत्रिका है। "प्रगति" ने दो वर्षो के जीवन में ही नेपाली साहित्य की अपूर्व सेवा की है। दार्जिलिंग से निकलने वाली "भारती" आठ वर्षो से नेपाली साहित्य का प्रतिनिधित्व करती आई है। 'नेपाल-पुकार', 'युगदूत', 'नया नेपाल' आदि आधे दर्जन साप्ताहिक निकल रहें हैं। सप्ताह में तीन बार निकलने वाला "गोरखापत्र" नेपाल का सबसे पुराना पत्र है। वह लगभग साठ वर्षों से सरकार की छत्रछाया में निकलता आ रहा है। छोटे-छोटे एक पन्ने के दैनिक भी निकलते ही रहते हैं—जिनमें "समाज" प्रमुख है। नेपाल-रेडियो ने भी नेपाली भाषा और साहित्य की बड़ी सेवा की है। उसके डाइरेक्टर श्री देवेन्द्रराज स्वयं भी एक सुलेखक हैं!

नया नेपाल का पूरा प्रतिबिम्ब आप उसके साहित्य में पायेंगे। नेपाल-लेखक-संघ एक जीवित, जाग्रत और सतत प्रयत्नशील संस्था है। 'जन-साहित्य-संघ' हाल ही में स्थापित हुआ है, जो प्रगतिशीलता का सोलहो आना हामी है। गीतागेह से भी साहित्य की अच्छी सेवा हो रही है।

नेवारी भाषा की वृद्धि और विकास के लिए भी चेष्टायें हो रही हैं। "नेपाल" उसका प्रमुख पत्र है। सर्वश्री सिद्धिचरण, ठाकुर लाल, हृदयचन्द्र सिंह, रत्नध्वज, प्रेमबहादुर, धर्मरत्न यमि और चित्रधर जी उसके उन्नयकों में हैं। इधर काठमाँडू में एक हिन्दी-संस्था की स्थापना की गई है, जिसका नाम है 'नेपाल-हिन्दी-भवन'। यह भवन नेपाल के सभी हिन्दी-भाषियों को एक सूत्र में गूथने, नेपाल में चिरकाल से संचित प्राचीन हिन्दी-ग्रन्थों का उद्धार करने और राजकाज में हिन्दी को योग्य भाग दिलाने के प्रयत्न में संलग्न है। नेपाल की तीनों भाषाओं में सामंजस्य स्थापित करने की दशा में भी वह चेष्टा कर रहा है। अपने पड़ौसी देश में साहित्य की जो प्रगति हो रही है, उसे जानकर किस भारतवासी का हृदय आनंद से गद्गद् नहीं हो उठेगा? नेपाल का साहित्य दिन-दिन समृद्ध हो, यही हम सब की आकाँक्षा हो सकती है।

२४

सभी भारतीय भाषाओं की जय

कविवर दिनकर ने यह नारा दिया है और यदि हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के पद पर आसीन हम देखना चाहते हैं, तो सिर्फ जबान से नहीं, बल्कि तहे दिल से, इस नारे को अपनाना पड़ेगा।

दिल्ली के देवताओं ने और कुछ किया हो या नहीं, इतना जरूर किया है कि हिन्दी के खिलाफ एक भारतव्यापी मोर्चा खड़ा करने की चेष्टा की है और इसमें उन्हें काफी सफलता मिली है। उन्हें ऐसी हिम्मत तो नहीं हुई कि किसी अन्य भारतीय भाषा को हिन्दी के मुकाबले राष्ट्रभाषा-पद के लिए पेश कराते, और यह सभी भारतीय भाषाओं को श्रेय मिलना चाहिये कि उन्होंने स्वयं भी अपने को राष्ट्र-भाषा-पद के लिए पेश नही किया, किन्तु, अँग्रेजी के झण्डे के नीचे हिन्दी के खिलाफ एक अखिल भारतीय मोर्चा बनाने के लिए दिल्ली के ये देवता एड़ी-चोटी का पसीना एक करते जा रहे हैं, और इस समय ऐसा लग रहा है कि उन्हें इसमें आंशिक सफलता भी प्राप्त हो चुकी है। दिल्ली में शिक्षा-विशेषज्ञों के नाम पर ऐसे लोगों को एकत्र किया जाता रहा है, जो यह कह सकें कि बिना अँग्रेजी को माध्यम रखे हुए उच्च-शिक्षा देना सम्भव नही। हमारे लिए यह दुर्भाग्य की बात है कि हमारे उप-राष्ट्रपति भी अपने को इस सम्बन्ध में तटस्थ नही रख सके हैं। डा० राधाकृष्णन् अब एक शिक्षा-विशेषज्ञ ही नही हैं, वह हमारे इस विशाल राष्ट्र के चुने हुए उपराष्ट्रपति हैं, अतः इस पद की सारी मर्यादाओं का निर्वाह उनका परमकर्तव्य होना चाहिए। जब भारतीय संविधान में हिन्दी को राष्ट्र-भाषा-पद पर अधिष्ठित किया जा चुका है, तो उसके खिलाफ जो षड्यंत्र चल रहा है, उसमें अपने को शामिल करके मानवीय

उपराष्ट्रपति क्या अपने कर्तव्य से च्युत क्यों हो रहे हैं ? हमें यह पूछने में जरा भी संकोच नहीं। किन्तु इतिहास में यह पहली बार नहीं है जब उपराष्ट्रपति या उपप्रधान मंत्री ने संविधान की मंशा के खिलाफ साजिश की हो। अतः हमें इन बातों से आश्चर्य में आने या हतबुद्धि होने की जरूरत नही है। हमें इसका डट कर सामना करना चाहिए।

वह सामना कैसे किया जाय ? यही इस नेतृत्व का महत्त्व है। हमें इस मोह को छोड़ना पड़ेगा कि अँगरेजी के लिए जो सारी जगहें सुरक्षित थीं, वे सारी-की-सारी हिन्दी को मिल जायँ। अँगरेजी साम्राज्यवाद की भाषा थी और वह सारे भारत पर उसी तरह लादी गई थी जिस तरह अँगरेजी साम्राज्यशाही। उसने उन क्षेत्रों पर भी कब्जा किया था, जो यथार्थतः प्रादेशिक भाषाओं के क्षेत्र थे। उसने इन प्रादेशिक भाषाओं के जिन क्षेत्रों को हड़प लिया था, उनकी ओर ललचाई नजरों से देखकर हिन्दी भी अपने को साम्राज्यवादी भाषा बनने की आकाँक्षा रखने के लाँछन से दूर नही रख सकती। हिन्दी को उन क्षेत्रों से ही सन्तुष्ट होना पड़ेगा, जो ये प्रादेशिक भाषायें उसे राजी–खुशी दें। यदि आज किसी कारण से वे हिन्दी के क्षेत्र को नितान्त ही परिमित कर देना चाहें, तो हमें यह सादर स्वीकार करना चाहिए। इन प्रादेशिक भाषाओं की शुभाकाँक्षा ही वह मूल पूँजी होगी, जिसके बल पर हिन्दी राष्ट्र-भाषा के रूप में अपने को विकसित कर सकेगी। जो लोग जोर जबर्दस्ती से हिन्दी को प्रादेशिक भाषाओं पर लादना चाहते हैं, वे हिन्दी के शत्रु हैं, हमें यह मान लेना चाहिए।

हिन्दी का युद्ध प्रादेशिक भाषाओं से नही, अँगरेजी से है ! अँगरेजी साम्राज्यशाही चली गई, क्योंकि सारा भारत उसके खिलाफ सम्मिलित रूप में खड़ा हुआ था। अँगरेजी साम्राज्यशाही चली गई किन्तु अँगरेजी भाषा अब तक बनी हुई है, यही शर्म की बात नहीं है, बल्कि शर्म से सर झुकाने की बात है कि वह हममें से बहुतों को अपने पुश्तपनाह बना चुकी है और अब वह यह भी स्पर्द्धा करने लगी है कि वह भारत में स्थायी रूप से कायम रहेगी ! अँगरेजी की इस स्पर्द्धा, इस आकाँक्षा का

शीघ्र ही मूलोच्छेद करना है। यह तभी सम्भव है, जब सभी भारतीय भाषायें उसके खिलाफ एक मोर्चे पर डटें। यह मोर्चा हिन्दी ही बना सकती है और इसके बनाने के लिए एक ही नारा हो सकता है—सभी भारतीय भाषाओं की जय! सभी भारतीय भाषाओं की जय—इस नारे का एकमात्र अर्थ होगा, अँगरेजी का क्षय! अँगरेजी की इस देश से मलोच्छेद हुए बिना किसी भी भारतीय भाषा का पूर्ण विकास असम्भव है, इस भावना को देशव्यापी बनाने का काम हिन्दी का होना चाहिये! यदि हिन्दी यह नेतृत्व दे सकी, तो उसे स्वतः ही राष्ट्र-भाषा का वह स्वयं-प्राप्त पद मिल जायगा, जिसके खिलाफ षड्यंत्र करने की जुर्रत किसी को नही होगी!

इस नारे का एक व्यावहारिक रूप हम पेश करना चाहते हैं। इस समय हिन्दी के लिए पारिभाषिक कोषों का निर्माण हो रहा है। इस सम्बन्ध में मुख्यतः दो विचारधारायें लोगों के सामने प्रकाश पा रही हैं। एक रघुवीरी, दूसरी सुन्दर लाली! दोनों विचारधारायें देखने को दो हैं, किन्तु उनका मूलाधार एक है—यों कहिये, एक ही सिक्के के ये दो रुख है— इनकी धातु एक है, ये एक ही टकसाल से निकले हैं। एक ही भावना की ये दो प्रतिक्रियायें हैं! डा० रघुवीर पंजाबी है, पंजाब की आबोहवा ने उस हर चीज़ से उनमें नफरत पैदा कर दी है, जिसमें इस्लाम की थोड़ी भी बू हो। यों ही पं० सुन्दरलाल के बारे में यह खुला सत्य है कि निजाम की छत्रछाया के नीचे ही उनकी हिन्दोस्तानी कल्चर सुसाइटी पलती रही है। अतः हर चीज, जिस पर इस्लाम की छाप हो, उन्हें प्यारी लगती है। वे हिन्दी के नाम पर संस्कृत चलाना चाहते हैं, या हिन्दी के नाम पर उर्दू। चक्की के इन दो पाटों में हिन्दी कुचली जा रही है और पारिभाषिक शब्दों के निर्माण के रूप में इन्हें ऐसी हरी-भरी चरागाह मिल रही है कि ये दोनों साँड़ चरते हुए नही अघा रहे हैं। हम हिन्दी वालों से कहेंगे, इन दोनों से बचो और एक तीसरी राह, जो सही राह है, पकड़ो।

भारत के भिन्न-भिन्न भागों का ऐसा विकास हुआ है कि वहाँ जीवन और विद्या के विशेष तत्त्वों का स्वभावतः अधिक विकास हुआ है। वहाँ

तत्सम्बन्धी शब्द भी बहुत पहले से प्रचलित हैं। इतिहास और पुरातत्व का काम महाराष्ट्र में अधिक हुआ है, तामिल के लोगों की जहाजरानी एक अति प्राचीन पेशा रही है, कला और कविता में बंगाल अग्रणी रहा है, छोटे-छोटे उद्योग-धंधों और इन्जीनियरिंग में पंजाब प्रमुखता पा रहा है, सामुद्रिक व्यापार में कच्छ ने कमाल हासिल किया है ! यों ही हर प्रदेश की कुछ खूबियाँ हैं। आदिवासी क्षेत्रों की तो गल्ला विशेषता है ही। हम कहते हैं, क्यों नही, इनकी भाषाओं से इन विषयों के शब्द सीधे ले लिये जायें। हमारा विश्वास है, रघुवीरी और सुन्दर-लाली शब्दों से ये शब्द कही सुन्दर होंगे—क्योंकि ये वहाँ की लोक-जिह्वा की खराद पर चढ़ कर सुडौल और चिकने भी बन चुके होंगे। भारत की प्रमुख तेरह भाषाओं और दर्जनों उपभाषाओं में ऐसे हजार-हजार शब्द मिलेंगे, जिन्हें पाकर राष्ट्र-भाषा निहाल हो उठेगी। इन शब्दों को राष्ट्र-भाषा के कोष में लेकर हम उन भाषा-भाषियों को व्यवहारतः जतला सकेंगे कि यह राष्ट्र-भाषा यर्थाथतः उनकी राष्ट्र-भाषा है ! विदेशी भाषा के जो शब्द अखिल भारतीय प्रचार पा चुके हैं, उन्हें हटा कर उनके लिए नये शब्द गढ़ना सिर्फ दिमाग की खराबी का ही सूचक है ! दिल्ली के जो महाप्रभु इस समय भिन्न-भिन्न टकसालों में दागी धातुओं के दोगले शब्द गढ़वा रहे हैं, हम उनसे कह दें, तुम्हारा यह नकली कोष हमें नही चाहिये ! भारत की सभी भाषाओं के प्रमुख कोष-वेत्ताओं को एकत्र करो और उन्ही के सहयोग से राष्ट्र-भाषा का कोष तैयार कराओ ! दिल्ली में रुपये फूंके जा रहे हैं, तुम्हें फूकना है, फूको; लुटाना है, लुटाओ। किन्तु भगवान् के नाम, तुम्हें तुम्हारे खुदा की कसम, हिन्दी को अधिक बदनाम नही कराओ और एक यही सुकर्म कर लो, तो हो सकता है, कभी तुम्हारे भी खून माफ हो जायँ !

हम हिन्दी वालों को यह सदा याद रखना है, हिन्दी राष्ट्रभाषा बनी है, तो इसलिए नहीं कि हिन्दी बोलने वालों की संख्या इस देश में सब से अधिक है। इसलिए भी नहीं कि हिन्दी का साहित्य सर्वश्रेष्ठ है। और इसलिए भी नही कि हम हिन्दी वालों के सिर पर सुरखाव के पर लगे हैं ! हमारी चिल्ल-पों ने भी हिन्दी को राष्ट्र-भाषा नही बनाया। हिन्दी

राष्ट्र-भाषा बनी, तो इसलिए कि यह भारत की सर्वप्रिय जनभाषा और साधुभाषा रही है और इसके इन्हीं गुणों ने भिन्न भाषा भाषियों की श्रद्धा और भक्ति इसे दिलाई। स्वामी दयानन्द, महात्मा गाँधी, लोकमान्य तिलक, केशवचन्द्र सेन आदि अहिन्दी भाषियों ने इसे राष्ट्र-भाषा के रूप में ग्रहण किया और अपने व्यक्तित्व का बल देकर इसे परवान चढ़ाया! आज भी अहिन्दी क्षेत्रों में हिन्दी की ध्वजा अहिन्दी भाषी ही उड़ा रहे हैं! मद्रास में, महाराष्ट्र में, गुजरात में, उत्कल में, बगाल में, आसाम में हिन्दी के प्रचार में जो लोग दत्तचित्त हैं, वे मुख्यतः अहिन्दी भाषी हैं। यह महात्मा गाँधीजी की सूझ थी कि उन्होंने अहिन्दी भाषी प्रान्तों में हिन्दी-प्रचार का उत्तरदायित्व वही के हिन्दी-प्रेमियों को सौंपा। जहाँ हमने गाँधीजी के इस सत्परामर्श का उल्लंघन किया, वहाँ सर्वत्र ही, हम फूट और कलह ही फैलाने में समर्थ हुए। आज भी जब हम अहिन्दी क्षेत्रों में हिन्दी-प्रचार की बात सोचते हैं, तो हमारा निहित स्वार्थ होता है। मद्रास में, महाराष्ट्र में, गुजरात में हिन्दी की जैसी अटूट सेवा हमारे मद्रासी, महाराष्ट्री और गुजराती भाई कर रहे हैं, वैसी सेवा हमसे हिन्दी प्रान्तों में भी नही बन रही है, हम अपनी आँखों देखी सचाई के आधार पर कहते हैं!

अतः हम हिन्दी वालों से कहेंगे, कृपा कर अहिन्दी प्रान्तों में हिन्दी-प्रचार की चर्चा भी आप नही कीजिये और इसके बदले अपने प्रान्तों में ही हिन्दी के लिए कुछ कीजिये। हिन्दी प्रान्तों में ही हिन्दी के लिए करने के लिए बहुत है! क्या हिन्दी प्रान्तों में हिन्दीकरण हो चुका, जो आप बाहर के लिए परेशान हैं। देवघर से दिल्ली और शिमला से नागपुर तक जो नौ हिन्दी प्रान्त हैं, क्या वहाँ की सरकारें अपने सारे काम हिन्दी में कराने लगी कि आप अन्य सरकारों को हिन्दी-प्रेम का पाठ पढ़ाने चलें। हम बिहार को ही लेते हैं! बिहार में ऐसे कितने मिनिस्टर हैं, जो अपने आदेश शुद्ध हिन्दी में लिख सकें। एकाध को छोड़ कर, हमारे मिनिस्टर जब हिन्दी में बोलने लगते हैं, तो उनका हिन्दी-ज्ञान देख कर बच्चे तक हँसने लगते हैं। फिर सचिवालय के सचिवों की क्या बात? इन पंक्तियों का लेखक हाल ही पूना गया था, तो वहाँ देखा, सरकार के

बड़े-से-बड़े अफसर बाजाप्ता हिन्दी सीख कर परीक्षा में बैठ रहे हैं और ऐसी शुद्ध हिन्दी बोलते हैं कि सुनकर हृदय आह्लादित हो जाता है। और, हमारे यहाँ के अफसर जो अपने को हिन्दी भाषी कहते हैं, दो वाक्य भी शुद्ध हिन्दी बोल पाते, तो गनीमत होती! हम बड़े अदब के साथ कह सकते हैं कि पहले अपने मिनिस्टरों, सचिवों, और अफसरों को हिन्दी सिखला लीजिये, फिर आप मद्रास या महाराष्ट्र में हिन्दी प्रचार की बात सोचें! हिन्दी-प्रान्तों में जो आदिवासी क्षेत्र हैं, क्या हम उन्हें हिन्दी सिखला सके? हमारी कचहरियों में, स्कूलों में, कालेजों में, अब भी अँगरेजी का बोलबाला है। पटना, लखनऊ, दिल्ली, रीवा, नागपुर, जयपुर, ग्वालियर, अजमेर, शिमला से पहले अँगरेजी को हटा लीजिये, तब कलकत्ता, कटक, गोहाटी, मद्रास, मैसूर, हैदराबाद, पूना, बम्बई, अहमदाबाद की बात सोचियेगा। आप मियाँ माँगते दरवाजे दरवेश—की कहानी चरितार्थ करते हमें भी शर्म नहीं आती है। पहले अपनी इस शर्म को दूर कीजिये, फिर बाहर निकलिये। अपने मुँह पर कालिख पोते हुए भी हम दूसरों के सिर पर चन्दन चढ़ाने की जुर्रत करते है—इस ढिठाई की बलिहारी।

भाषा का प्रचार जोर-जबर्दस्ती से, संख्या के बल पर, शासन के डण्डे से नहीं किया जा सकता। सारे देश के लोग अपनी प्रकृति और प्रवृति के अनुसार तीव्र या माध्यम गति से हिन्दी सीखने जा रहे थे। किन्तु ज्यों ही शासन ने उनपर दबाव डाला, स्कूलों-कालेजों में हिन्दी अनिवार्य की गई, उसका विरोध प्रारम्भ हुआ। अहिन्दी भाषियों की एक शिकायत वाजिब है। उन्हें तो अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त हिन्दी और अँगरेजी दोनों को सीखना पड़ता है। किन्तु हिन्दी वालों की चाँदी है—उन्हें आज एक अँगरेजी सीखनी पड़ती है और वह हटी तब तो क्या कहने? हम इसका जवाब क्या देंगे? यदि आज हम स्कूलों-कालेजों में एक और भारतीय भाषा का पढ़ना अनिवार्य किया जाय, तो हम चिल्ल-पों नहीं मचाने लगेंगे? किन्तु क्या न्याय का तकाजा यह नहीं है कि हम अपने ऊपर भी इतना बोझ लें, जितना दूसरे पर लादना चाहते हैं।

चौदह बहनों में हिन्दी को सौभाग्य मिला कि वह राज्य-भाषा के

पद पर आसीन की गई। उस बड़ी बहन पर वज्र गिरे जो गद्दी पर बैठने के बाद अपनी छोटी बहिनों का तिरस्कार करे, उनपर धौंस जमाये, उनके घर उजाड़ने की सोचे उसका कर्त्तव्य तो यह होना चाहिये कि वह छोटी बहनों को प्यार दे, दुलार दे, उनके अभावों को दूर करे, उनके घरों को सम्हालने, सजाने में सहयोग दे, सहायता करे।

सभी भारतीय भाषाओं का निवास ऐतिहासिक कारणों से हुआ है और वे इस प्रकार विकसित हो चुकी है कि उनके अनिष्ठ की जरा भी बात सोचना देश की प्राणदायिनी नसों पर प्रहार करना होगा। हमारे देश की वाटिका में ये तरह-तरह के फूल खिले हैं, सबके अलग रंग है, रूप की अलग गन्ध है। इन रंगों और गन्धों के कारण ही हमारी यह वाटिका इतनी रमणीय है, मनोरम है। हमें फूलों की हर जड़ में जल देना है—स्रोत का जल, आदर का जल, श्रद्धा का जल! इस नारे के द्वारा हमारे कवि ने हमारे इसी कर्त्तव्य की ओर इंगित किया है। विश्वास है. यह नारा मारे हिन्दी-क्षेत्र में गुञ्जित होगा।

२५

साहित्य और संस्था

कबीर ने कहा है, "सिंहन के लेहँड़े नहीं, हंसन की नहिं पाँत।" सिंह अकेला जंगल का राजा है, हंस अकेला उड़ता है! जो हंसवाहिनी के सपूत हैं, जिनका स्वभाव और चालढाल सिंहों की-सी है, उनकी क्या कोई पाँत बनाई जा सकती है? उन्हें क्या एक घेरे में रखा जा सकता है?

हिन्दी के एक आधुनिक आचार्य ने साहित्यिकों के संगठित करने की चेष्टा को मेढ़क तोलने के प्रयास से उपमा दी है। तराजू के पलडे पर एक मेढ़क को रखिये और जब तक दूसरे के लिये हाथ बढ़ाइये, देखियेगा, पहले हजरत उछल कर नौ-दो-ग्यारह हो चुके हैं।

फ्रांस के सुप्रसिद्ध साहित्यिक आँद्रेजीद दो कदम और आगे बढ गये हैं। उनका कहना है, हर कलाकार व्यक्तिवादी होता है और ऐसा रह कर ही वह कीमती काम और समाज की सेवा कर सकता है!

इसका सीधा-सादा अर्थ यही न हुआ कि साहित्यिकों का कोई संगठन नहीं हो सकता और वे इस प्रपंच से अलग रह कर ही साहित्य और समाज के अधिक उपयोगी हो सकते है!

किन्तु यह युग तो संगठन का है, संस्था का है। कलियुग में संघ में ही शक्ति है, यह ऋषिवाणी है। यह वाणी उन पर ही लागू नहीं हो, जो अपने को ऋषियों के सच्चे सपूत समझते हैं—यह कैसी आश्चर्य की बात!

और यह भी सही है कि साहित्यिकों ने इस ऋषिवाणी को अपने पर लागू करने की कोशिश की है। हिन्दी के साहित्यिकों ने बार-बार इस दिशा में चेष्टा की है और नागरी-प्रचारिणी-सभा तथा हिन्दी-साहित्य-सभा सम्मेलन के रूप में दो ऐसी संस्थायें बनाई, जिन पर संसार के

किसी भी साहित्यिक को गर्व हो सकता है !

किन्तु उन दो संस्थाओं के इतिहास तथा उनकी वर्तमान स्थिति के मूल में जाइये, तो आपको कबीर या आँद्रे के कथन की सार्थकता पर आप-आप विश्वास करना पड़ेगा।

नागरी-प्रचारिणी-सभा के संस्थापक स्वनामधन्य बाबू श्यामसुन्दर-दास जी की उनके बुढापे में इस संस्था के कारण कौन-सा मानसिक क्लेश नहीं सहना पड़ा था और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के प्राण राजर्षि-पुरुषोत्तम दास जी टंडन को इस बुढापे में जिन वृश्चिकदंशनों से मर्माहत होना पड़ रहा है, उन्हें क्या गिनाने की आवश्यकता रह गई है !

हिन्दी साहित्य का सौभाग्य है कि कुछ कर्मठ साहित्य सेवी "सभा" के छकड़े को जैसे-तैसे धकेले जा रहे है; किन्तु "सम्मेलन" के भवन पर तो सरकारी सील मुहर लग चुकी है ! इस सील-मुहर को तोड़ने के लिए वर्धा में विशाल आयोजन किया गया, किन्तु क्या उसमें सफलता मिल पाई ?

यही नही, आजकल देश के भिन्न-भिन्न राज्यों में तथा छोटे-बड़े नगरों, कस्बो और गाँवों तक में जो साहित्यिक संस्थाये स्थापित की जा रही हैं, क्या उनका सचालन विवाद और कलह से दूर रह कर किया जा रहा है ?

ये सब अनुभव क्या हमारे निकट साहित्यिकों की संस्था-संचालन की योग्यता पर बड़ा प्रश्नचिह्न उपस्थित नही करते ?

याद आता है, एक बार हिन्दी के एक अराजकतावादी आचार्य ने लिखा था, संस्था का अर्थ ही है सम्यकरूप से स्थापित की गई वस्तु—यानी कब्र ! उन्होंने चेतावनी दी थी, संस्थाओं के बनाने के फेर में मत पड़ो, आप अपनी कब्र मत खोदो ! यह दूसरी बात है कि वह जहाँ रहते हैं, कोई-न-कोई संस्था बनाने से अपने को रोक भी नही पाते !

आदमी आदत से मजबूर होता है; किन्तु उनके कथन में सत्य जरूर दीख पड़ता है।

देखा यह गया है कि जब कोई साहित्यिक संस्था बनी, प्रारम्भ में लोगों ने बहुत उत्साह दिखलाया तब शायद वे बुद्धि से प्रेरित थे। जब

समाज के सभी स्तर और वर्ग के लोग संस्थायें बना रहे हैं, तो हम साहित्यिक ही पीछे क्यों रहें ? झटपट संस्था खोल दी गई और उसमें जुट जाया गया ।

किन्तु साहित्यकार तो मुख्यतः भावना-प्रधान व्यक्ति होता है । संस्था-संचालन में जहाँ थोड़ी भी खटक आई कि उनकी भावना ने बुद्धि पर कब्जा किया और उन्हें बहाकर ऐसी जगह ले गई कि अपनी बनाई इमारत में स्वयं आग लगाने में उन्हें झिझक नहीं हुई, भले ही उनकी ज्वाला में उन्हें भी जल-भुन क्यों नहीं जाना पड़े !

संस्था-संचालन के लिए एक खास ढंग की योग्यता, क्षमता और चातुरी चाहिये । सदस्यों, खासकर कार्यशील सदस्यों की रुचि और प्रवृत्ति का ज्ञात रखना, विरोधियों की बातों पर भी उचित ध्यान देना, यथासम्भव उनसे सामंजस्य स्थापित करने की कोशिश करना, सबको यथायोग्य कामों में लगाये रखना, उनकी सफलता पर प्रशंसा और प्रोत्साहन के वचन कहने में कंजूसी न करना और यदि अवसर आ जाय, तो अनुशासन की कार्रवाई करने में नहीं हिचकना—ये कुछ प्रारम्भिक गुण हैं, जो संस्था-संचालक में होने चाहिये ।

यह बात नहीं कि साहित्यिकों में इन गुणों का सर्वथा अभाव होता है । किन्तु देखा गया है कि ये भावना-प्रधान प्राणी संकट की स्थिति में अपनी सहज बुद्धि का दरवाजा बन्द कर देते हैं और भावना की तरंगों पर ऐसे बहने लगते है, कि सारा किया-कराया सर्वनाश में मिल जाता है ।

यदि संयोग से इनकी संस्थाओं में कुछ बाहर के तिकड़मी घुस गये, तब तो लीजिये साँझ ही लंका-काण्ड मच कर रहेगा । वहाँ तो एक हनुमान् थे, यहाँ तो हर आदमी हनुमान् का पार्ट अदा करने पर तुल गया ।

ऐसे ही कटु अनुभवों के आधार पर ही यह कहा गया है कि साहित्यिकों को संस्थाओं के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिये, उन्हें स्वतन्त्र रूप में काम करना चाहिये, यदि कभी वे ऐसी गलती करेंगे, तो ऐसा करके अपनी कब्र ही खोदेंगे ।

कुछ दिन हुए, पेरिस में लेखकों की एक ग्रन्तर्राष्ट्रीय जमात जुटी थी। उसमें "लेखक ग्रौर वातावरण" पर विचार-विमर्श करते हुए इस बात पर खास जोर दिया गया था कि लेखक के लिए स्वतन्त्रता की नितान्त ग्रावश्यकता है ग्रौर वह है एकाकी की स्वतन्त्रता। यानी, लेखकों को ग्रकेले छोड दो, जहाँ वह स्वतन्त्र चिन्तन-मनन ग्रौर रुचि ग्रौर प्रतिभा के ग्रनुसार रचना कर सके! जहाँ इसमें दस्तन्दाजी की गई, फिर उसका ग्रस्तित्व ही खतरे में पड जायगा।

क्या संस्था उसकी इस "एकाकी की स्वतंत्रता" में बाधक नही बन जाती है?

तो भी संस्थाग्रो का मोह तो छूटता नही है। जिन लोगों ने उपर्युक्त तर्क पेश किये थे, वे स्वयं एक संस्था के रूप में एकत्र हुए थे। चारा भी क्या है? जब उनकी यह "एकाकी की स्वतंत्रता" पर भी प्रहार-पर-प्रहार हो रहे हैं, चारों ग्रोर से, तब उन्हें लाचारी ग्रपने को संघ-बद्ध करना ही पड़ता है।

क्या संस्था का कोई ऐसा रूप विकासित नही किया जा सकता, जिसके सञ्चालन में कुछ ग्रधिक झँझटें नही हों, जिसके साथ किसी निहित स्वार्थ का लगाव न हो, जहाँ सभी साहित्यिक ग्रपने मतों का, स्वतंत्र ग्रादान-प्रदान कर सकें ग्रौर यदि ग्रावश्यकता पड़े तो उस संस्था द्वारा ग्रपने हितों पर हुए ग्राघातों का मुकाबिला कर सकें!

दिक्कत यह है कि ग्राज जो भी संस्थायें बनाई जाती हैं, सामाजिक या साहित्यिक उनका ढाँचा मूलतः राजनीतिक संस्थाग्रों के रूप में होता है। राजनीति के साथ ही गुटबन्दी तथा सत्ता ग्रौर प्रभुता हथियाने की प्रवृत्ति नत्थी है। फलतः इन संस्थाग्रों में इन दुष्प्रवृत्तियों का बोलबाला हो जाता है। फिर कलह ग्रौर कुकर्म को इन संस्थाग्रों से कैसे ग्रलग किया जा सकता है?

यदि ऐसी संस्थाग्रों के साथ ग्रार्थिक स्वार्थ का भी सम्मिश्रण हुग्रा, तब तो ग्रनर्थ होकर ही रहता हैं!

हमने ग्रपनी जिन दो महान् संस्थाग्रों की चर्चा ऊपर की है, उनके कलह के मूल में भी ये ही कारण रहे हैं। "सम्मेलन" में ग्रार्थिक स्वार्थ

भी जुट गया है, फलतः उसकी सबसे बुरी गत हुई है, "सभा" बार-बार लड़खड़ाती हुई भी खड़ी है और धीरे-धीरे आगे ही बढ़ती जा रही है।

साहित्य की संस्था कैसी हो, उसका उत्कृष्ट उदाहरण है, उपनिषद्! आओ, हम एक साथ बैठें, कुछ चर्चा हो, कुछ ऊँची चर्चा, कुछ दिव्य चर्चा! इस चर्चा-मंथन से ज्ञान का अमृतमय माखन निकल कर रहेगा, जो सबके लिए सुलभ हो, सुपच हो, स्वास्थ्यप्रद हो!

कार्य-विवरण पाठ, कार्यक्रम पर बहस, आय-व्यय का लेखा, चुनाव, मतदान—साहित्य की संस्था की संचालन-पद्धति यह नहीं हो सकती!

यह संचालन-पद्धति राजनीतिक संस्थाओं का है! हमने उधार लिया, हमने अपना संहार कराया।

साहित्य के अपने अनेक प्रश्न है—उसके रूप के, विषय के, शैली के, व्याकरण के, संकेत के, लिपि के। समाज में साहित्य का स्थान, साहित्य का समाज के प्रति उत्तरदायित्व, सत्ता के साथ उसका सम्बन्ध, सत्ता का साहित्य-साधना में सुयोग या हस्तक्षेप, संसार के साहित्य में अपने साहित्य का स्थान, उससे पारस्परिक सहयोग का स्थापन, अपने साहित्य का वैशिष्ट्य और अभाव—आदि व्यापक प्रश्न हैं, जिन पर एक साथ बैठकर विचार-विनिमय किया जाना आवश्यक है।

क्या साहित्यिक संस्थाओं या सम्मेलनों में इन प्रश्नों पर हम कभी विचार-विमर्श कर पाते हैं!

बस दो-तीन दिनों का धूमधाम, उठापटक, जीतहार—फिर मुँह बनाये या गाल फुलाये हम अपने-अपने घरों को लौट आते हैं!

सत्ता यह करे, समाज यह दे—अरे, इस भिखमंगी से हमारा-तुम्हारा आज का कुछ काम चल जाय, साहित्य का कोई स्थायी काम इससे होने-जाने वाला नहीं! साहित्य का स्थायी काम है साहित्य का निर्माण; प्रकाशन तो पीछे आता है! कोई भी उच्चकोटि का साहित्य क्या कभी अप्रकाशित रहा है—चाहे वह आज छपे या सौ वर्ष के बाद।

साहित्य की संस्था को मुख्यतः साहित्य-निर्माण की संस्था होना चाहिये। निर्माण की संस्था और रक्षण की संस्था! खोजो पुरानी चीजें कहाँ पड़ी हैं और उन्हें सुरक्षित करो; निर्माण करो, शाश्वत

साहित्य का, युग के साहित्य का। सत्ता और समाज को झख मार कर तुम्हारे पास आना ही पड़ेगा !

यह ऋषियो का देश है—बड़े-बड़े क्षत्रधारियों को अपना मुकुट सिर से उतार, हाथ में लेकर उनके चरणों पर अवनत होना पड़ा है ! जिस किसी दम्भी शासक ने ऐसा नहीं किया, वह आप गया !

अपने को पहचानों ! आओ एक साथ बैठो, अपने ढंग से, अपनी शान से। यह तुम्हारी बैठक ही तुम्हारी संस्था [illegible] [illegible]री जीती-जागती संस्था, चलती-फिरती संस्था ! तुमने अपनी संस्था को अचल बनाना चाहा ; वहाँ मुर्दनी आई, वह तुम्हारी कब्र बनी !

उपनिषद् बनाओ, आप अपनी कब्र मत खोदो !

हमारा आलोचनात्मक साहित्य

काव्य के रूप	गुलाबराय	५)
सिद्धान्त और अध्ययन	गुलाबराय	६)
साहित्य-विवेचन	सुमन और मल्लिक	६॥)
साहित्य-विवेचन के सिद्धान्त	सुमन और मल्लिक	३)
आलोचना के सिद्धान्त	ब्योहार राजेन्द्रसिंह	४)
आलोचक रामचन्द्र शुक्ल	गुलाबराय तथा विजयेन्द्र स्नातक	६)
हिन्दी के आलोचक	शचीरानी गुर्टू	८)
महादेवी वर्मा	शचीरानी गुर्टू	६)
सुमित्रानन्दन पंत	शचीरानी गुर्टू	६)
प्रेमचन्द: जीवन, कला और कृतित्व	हंसराज 'रहबर'	६॥)
प्रसाद: जीवन, कला और कृतित्व	महावीर अधिकारी	८)
महाकवि सूरदास	नन्ददुलारे वाजपेयी	४)
मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ	डा० सावित्री सिन्हा	८)
कबीर-साहित्य और सिद्धान्त	यज्ञदत्त शर्मा	२॥)
सूर-साहित्य और सिद्धान्त	यज्ञदत्त शर्मा	२॥)
जायसी-साहित्य और सिद्धान्त	यज्ञदत्त शर्मा	२॥)
तुलसी-साहित्य और सिद्धान्त	यज्ञदत्त शर्मा	२॥)
हिन्दी-काव्य-विमर्श	गुलाबराय	३॥)
हिन्दी-नाटककार	जयनाथ 'नलिन'	५)
हिन्दी-निबन्धकार	जयनाथ 'नलिन'	६)
कहानी और कहानीकार	मोहनलाल 'जिज्ञासु'	३)
साहित्य में सत्य तथा तथ्य	अरुण, एम. ए.	३)
हिन्दी काव्यालङ्कार-सूत्र	आचार्य विश्वेश्वर	१२)
हिन्दी वक्रोक्तिजीवितम्	आचार्य विश्वेश्वर	१६)
साहित्य-समीक्षा	गुलाबराय	१॥)
अनुसन्धान का स्वरूप	डा० सावित्री सिन्हा	३)
हिन्दी-कविता में युगान्तर	डा० सुधीन्द्र	८)
सूफ़ी मत और हिन्दी-साहित्य	विमलकुमार जैन	८)
हिन्दी-साहित्य और उसकी प्रगति	विजयेन्द्र स्नातक क्षेमचन्द्र सुमन	३)
हिन्दी गद्य : विकास और विमर्श	चन्द्रकान्त बाली शास्त्री	१॥)
प्रबन्ध-सागर (हिन्दी निबन्ध)	यज्ञदत्त शर्मा, चौथा संस्करण, १९५७	६)